1

श्रीबल्लाल कवि : व्यक्तित्व एवं कृतित्व

भोजप्रबन्ध के रचयिता का नाम कवि श्रीबल्लाल है। संस्कृत वाङ्मय के कथा-साहित्य को इन्होंने भोजप्रबन्ध की रचना द्वारा अपरिमित रूप से समृद्ध किया है। इनका नाम बल्लाल देव दैवज्ञ[1] अथवा बल्लाल मिश्र[2], अथवा बल्लाल सेन[3], अथवा बल्लाल या वल्लभ[4] भी प्राप्त होता है।

मध्य प्रदेश के विदर्भ प्रान्त में, पयोष्णी (वर्तमान तापी)[5] नदी के तीर पर स्थित है दधिग्राम। इसी दधिग्राम के प्रसिद्ध विद्वद्कुल में श्रीबल्लाल कवि का जन्म हुआ था। कालान्तर में ये वाराणसी[6] चले गए और वहीं के होकर रह गए।

वंश परम्परा

श्रीबल्लाल ज्योतिर्विदों के प्रख्यात वंश में हुए थे। इनके प्रपितामह चिन्तामणि, पितामह राम एवं पिताश्री त्रिमल्ल थे[7]। इनकी अर्द्धांगिनी का कोई उल्लेख कहीं प्राप्त नहीं होता। इनके पाँच पुत्र थे– राम, कृष्ण, गोविन्द, रंगनाथ एवं महादेव[8]।

---

1. थि॰ आफ्रेक्ट : कै॰ कैट॰, भाग 1, पृ॰ 368
2. डा॰ नगेन्द्र : भा॰ सा॰ कोश, पृ॰ 887
3. डा॰ रा॰ सहाय हीरा : स॰ सा॰ कोश, पृ॰ 357
4. डा॰ एम॰ कृष्णमाचार्यर : हि॰ आफ क्ला॰ स॰ लि॰, पृ॰ 501
5. माथुर, वि॰ : ऐतिहासिक स्थानावली, पृ॰ 528
6. थि॰ आफ्रेक्ट : कै॰ कैट॰ भाग 1, पृ॰ 368 तथा डा॰ नगेन्द्र : भा॰ सा॰ कोश, पृ॰ 887
7. थि॰ आफ्रेक्ट : कै॰ कैट॰, भाग 1, पृ॰ 368
8. वही, तथा डा॰ गोरखप्रसाद : भा॰ ज्यो॰ का इति॰, पृ॰ 195

गोविन्द के पुत्र नारायण थे और रंगनाथ के मुनीश्वर (विश्व रूप) तथा वासुदेव नामक पुत्र-द्वय थे[1]।

ये सभी ज्योतिषशास्त्र के प्रखर विद्वान् थे। इनमें से श्रीबल्लाल के पुत्र कृष्ण तथा उन्हीं के पौत्र मुनीश्वर ने अपने-अपने ग्रन्थों में अपने पूर्वजों का उल्लेख किया है। ये लिखते हैं कि चिन्तामणि के पुत्र राम को इतना अच्छा भविष्यज्ञान था कि तत्सामयिक विदर्भराज उनके परामर्शानुसार चलते थे[2]। इन्हीं राम पण्डित के पुत्र त्रिमल्ल के पुत्र थे श्रीबल्लाल कवि।

श्रीबल्लाल कवि के पुत्र भी प्रखर मेधावी थे। इनमें से राम ने अनन्तसुधारस की उपपत्ति लिखी[3]। श्रीबल्लाल के दूसरे पुत्र कृष्ण इस वंश के सर्वाधिक प्रसिद्ध विद्वान् हुए। ये अपनी अप्रतिम प्रतिभा के बल पर मुगल सम्राट जहाँगीर की सभा में, प्रधान पण्डितों में स्थान पाते थे[4]। इन्होंने ज्योतिष एवं गणितशास्त्र संबंधी अनेक प्रौढ़ ग्रन्थों की रचना की। इन ग्रन्थों में, भास्कराचार्य के बीजगणित की नवांकुर नामक टीका विशेष रूपेण उल्लेखनीय है, क्योंकि इसमें इनकी अनेक नवीनोद्भावनाएँ भी हैं।[5] इनके कुछ अन्य ग्रंथ हैं-छादकनिर्णय, पंचपक्षी, प्रश्नकृष्णीय, परमेश्वरीय, बीज-विवृत्तिकल्पलतावतार (भास्कर की लीलावती पर), श्रीपति टीका, सूर्य सिद्धान्तोदाहरण आदि।[6] श्रीबल्लाल के चतुर्थ पुत्र रंगनाथ ने सूर्य-सिद्धान्त पर 'गूढार्थ-प्रकाशिका' नामक टीका लिखी।[7]

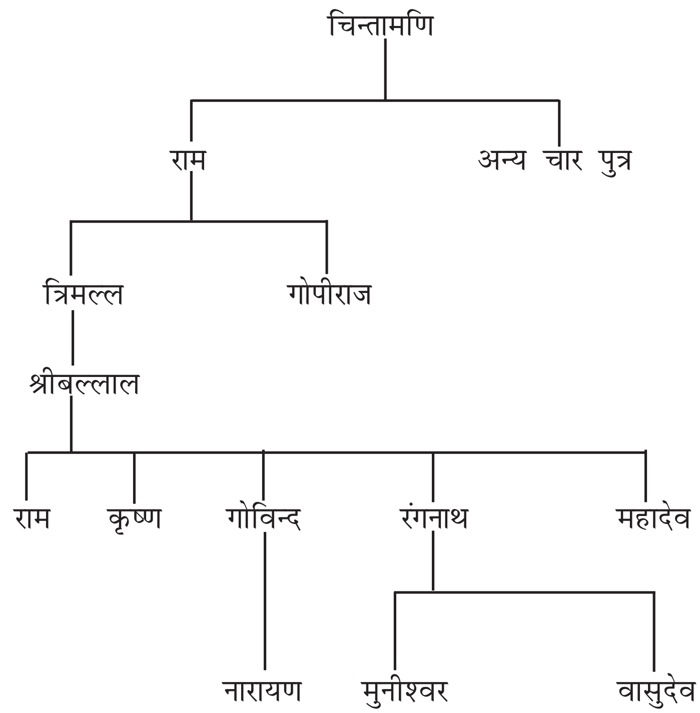
श्रीबल्लाल के पौत्र एवं रंगनाथ के पुत्र मुनीश्वर ने भी अपने वंश की मर्यादा को बनाए रखा। वे मुगल-सम्राट शाहजहाँ के आश्रय में

---

1. वा॰ गैरोला : स॰ सा॰ का स॰ इतिहास, पृ॰ 363
2. वही
3. वही
4. थि॰ आफ्रे॰ : कै॰ कैट॰, भाग 1, पृ॰ 118; डा॰ गोरखप्रसादः भा॰ ज्यो॰ का इति॰, पृ॰ 193 तथा वा॰ गैरोला-स॰ सा॰ का॰ स॰ इतिहास, पृ॰ 363
5. डा॰ गोरखप्रसाद : भा॰ ज्यो॰ का इति॰, पृ॰ 193
6. डा॰ गोरखप्रसाद : वही; तथा थि॰ आफ्रे॰ : कै॰ कैट॰, पृ॰ 118, भाग 1
7. थि॰ आफ्रे॰ : कै॰ कैट॰, भाग 1, पृ॰; डा॰ गोरखप्रसाद-वही; डा॰ बलदेव उपा॰ : संस्कृत शा॰ का इतिहास, परि॰, पृ॰ 99

भी रहे[1]। उन्होंने भास्करीय लीलावती पर 'निसृष्टार्थदूती लीलावतीविवृत्ति' नामक टीका के साथ-साथ, पाटीसार, सिद्धान्त-सार्वभौम तथा (सिद्धान्त-शिरोमणि के) गणिताध्याय एवं गोलाध्याय पर 'मरीचि' नामक भाष्य का भी प्रणयन किया।

इस प्रकार, श्रीबल्लाल कवि के वंश-वृक्ष को, अब तक उपलब्ध सामग्री के आधार पर इस प्रकार चित्रित किया जा सकता है :-



श्रीबल्लाल कवि के विषय में, विद्वानों में कतिपय मतभेद भी रहे हैं।

---

1. थि॰ आफ्रे॰ कै॰ कैट॰, भाग 1, पृ॰; डा॰ ब॰ उपा॰-वही; डा॰ गोरखप्रसाद-भा॰ ज्योतिष का इति॰, पृ॰ 195

(1) ये बंगराज बल्लालसेन थे।

(2) ये द्वारसमुद्र के राजा बल्लालसेन तृतीय थे।[1]

निराकरण :

(1) बंगराज बल्लालसेन देव, राजा विजयसेन के पुत्र एवं राजा हेमन्तसेन के पौत्र थे। इनका समय बारहवीं शती का है। राजा बल्लालसेन के आश्रित आनन्द नामक कवि द्वारा विरचित 'बल्लालचरित' नामक ग्रन्थ में भोजप्रबन्ध सदृश किसी ग्रन्थ का कोई उल्लेख नहीं है[2]। स्वयं राजा श्रीबल्लालसेनदेव विरचित 'अद्‌भुत सागर' एवं 'दानसागर' नामक ग्रन्थों में भी ऐसा कोई उल्लेख नहीं है[3]। अतः, यह सिद्ध होता है कि बंगराज बल्लालसेन देव एंव श्रीबल्लाल कवि भिन्न-भिन्न व्यक्ति हैं।

(2) अन्य कुछ विद्वान् द्वारसमुद्र के राजा बल्लाल तृतीय को ही भोजप्रबन्ध का प्रणेता मानते हैं, पर कोई राजा स्वयं किसी अन्य राजा का प्रशस्ति वर्णन करे, यह युक्तिसंगत नहीं जान पड़ता[4]। अतः कविश्री बल्लाल द्वारसमुद्र के राजा भी नहीं थे, यह भी सुनिश्चित हो जाता है।

संभवतः श्रीबल्लाल नामक किसी विद्वान् कवि ने भोजराज की प्रशंसा सुनकर तथा उससे अत्यन्त प्रभावित होकर कथा-संग्रह के रूप में भोजप्रबन्ध की रचना की होगी। कविवर बल्लाल की विद्वत्ता, संस्कृत भाषा-साहित्य तथा साहित्यकारों के विषय में उनका ज्ञान, उनकी विलक्षण सर्जनात्मक प्रतिभा, उनकी कल्पनाशीलता एवं अभिव्यक्ति, इन सब का परिचय हमें उनके भोजप्रबन्ध के अनुशीलन से सद्य ही प्राप्त हो जाता है।

श्रीबल्लाल प्रणीत भोजप्रबन्ध के आधार पर, कवि श्रीबल्लाल के जीवन-वृत्त एवं समय के विषय में कुछ भी निश्चयात्मक रूप से नहीं कहा जा सकता। जैसाकि संस्कृत कवियों की एक विशेषता रही है

---

1. प॰ वि॰ शा॰ भारद्वाज : संस्कृत साहित्येतिहास, पृ॰ 143
2. प॰ वि॰ शा॰ भारद्वाज : संस्कृत साहित्येतिहास, पृ॰ 143
3. थि॰ आफ्रे॰ कै॰ कैट॰ पृ॰ भाग; तथा-वही
4. पं॰ वि॰ शा॰ भारद्वाज : संस्कृत साहित्येतिहास, पृ॰ 143

कि वे अपने ग्रंथ में, अपने विषय में कोई संकेत देना उचित नहीं समझते। इसका एकमात्र कारण संभवतः उनकी विनयशीलता ही हो, परन्तु इससे संस्कृत वाङ्मय के इतिहासकारों तथा अध्येताओं एवं अनुसन्धित्सुओं को जिस कठिनाई का सामना करना पड़ता है, इस ओर यदि उनका ध्यान जाता, तो कदाचित् वे निजोपेक्षा के इस भाव को त्याग कर, अपने ऊपर भी कुछ प्रकाश अवश्य डालते। उन्हीं कवियों के पथ का अनुसरण श्रीबल्लाल ने भी किया। इन्होंने भोजप्रबन्ध के आरम्भ अथवा अन्त में, अपने विषय में कोई संकेत नहीं दिया है, तथापि कतिपय अन्तःसाक्ष्यों के आधार पर इतना अनुमान अवश्य लगाया जा सकता है कि इनका समय विक्रम की 15वीं-16वीं शती रहा होगा।[1]

फ्रेंच विद्वान् थामस पेई ने भोजप्रबन्ध का जो फ्रेंच अनुवाद, टीका सहित, जर्नल एशियाटिक में प्रकाशित करवाया था, वहां इसे तेरहवीं शताब्दी की रचना कहा गया है।

परन्तु, श्रीबल्लाल के पुत्र कृष्ण गणक या कृष्ण दैवज्ञ ने ज्योतिषशास्त्र से सम्बद्ध अनेक ग्रन्थों की रचना की थी, और ये मुगल-सम्राट जहांगीर (1606-1627) ई॰ की सेवा में थे, ऐसा उल्लेख हमें प्राप्त होता है[2]। इनके चतुर्थ पुत्र रंगनाथ ने शक-सम्वत् 1525 (अर्थात् 1603 ई॰) में सूर्य सिद्धान्त की 'गूढार्थ प्रकाशिका' नामक टीका लिखी थी।

इन्हीं रंगनाथ के सुपुत्र मुनीश्वर विश्वरूप भी ज्योतिषशास्त्र प्रखर आचार्य थे। ये भी मुगल-सम्राट शाहजहाँ (1627-1658 ई॰) के आश्रय में थे और इन्होंने अपनी एक पुस्तक में शाहजहाँ के राज्याभिषेक का समय भी लिखा है[3]। ये सभी तथ्य इस बात के प्रबल प्रमाण हैं कि श्रीबल्लाल का समय 16वीं शताब्दी ई॰ का उतरार्द्ध रहा होगा।

---

1. व्यास, भोलाशंकर : भोजप्रबन्ध, भूमिका, पृ॰ 3।
2. थि॰ आफ्रेक्ट : कै॰ कैट॰ भाग 1, पृ॰ 118; तथा डा॰ गोरखप्रसाद- भा॰ ज्यो॰ का इति॰, पृ॰ 193।
3. मुनीश्वर को शाहजहाँ का आश्रय प्राप्त था, और उनके राज्याभिषेक का ठीक-ठीक समय उन्होंने मरीचि व्याख्या (भाष्य) में हिजरी सन् में दिया है, जो 4 फरवरी 1628ई॰ में सूर्योदय से 3 घड़ी बाद सिद्ध होता है।
   आ॰ ब॰ उपा॰ : स॰ शा॰ का इति॰, पृ॰ 99

वैसे भी, भोजप्रबन्ध में इससे पूर्व के ही, प्रसिद्ध एवं अल्पप्रसिद्ध कवियों के उल्लेख प्राप्त होते हैं। यह भी इसी प्रमाण का पोषक है।

इसीलिए, संस्कृत साहित्य के अधिकांश इतिहासकारों ने श्रीबल्लाल को 16वीं शती के उत्तरार्ध का स्वीकार किया है[1]।

कृतित्व एवं कृति-विवेचन

संभवतः भोजप्रबन्ध ही कवि श्रीबल्लाल की ख्याति का एकमात्र अवलम्ब है। इसके अतिरिक्त, इनके किसी अन्य ग्रंथादिक का उल्लेख हमें कहीं प्राप्त नहीं होता।

भोजप्रबन्ध संस्कृत-वाङ्मय के, प्रबन्ध-ग्रंथों के कोश को समृद्धि प्रदान करने वाला ग्रंथ है। जैसाकि इसके नाम से ही स्पष्ट होता है, यह धारा-नगरी (वर्तमान धार (धारा, जिला ग्वालियर, मध्य प्रदेश)[2] के अधिपति महाराज भोजराज की विद्वत्ता, विद्वत्प्रियता एवं दानशीलता का वर्णन उपस्थित करता है। इसे हम प्रमुखतः द्विधा विभक्त कर सकते हैं-कथामुख एवं मूलकथा। कथामुख में, भोजराज के पिताश्री प्रतापी सिन्धुलराज तथा पितृव्य मुंज की कथा है। मूलकथा में, राजा भोज की दानशीलता का आलंकारिक वर्णन है। कुल 327 श्लोकों में निबद्ध इस कथा-संग्रह में 86 प्रबन्ध या कथाएँ हैं।[3]

संक्षिप्त कथा

कथामुख-महाराज भोज के पिता महाराज सिन्धुल ने धारा नगरी में दीर्घकाल तक प्रजापालन किया। वृद्धावस्था में उन्हें भोज नामक पुत्र हुआ। जब वह पाँच वर्ष का हुआ, तब उन्होंने राज्य अपने पराक्रमी अनुज मुंज को दे दिया तथा भोज को भी उसे अर्पित कर दिया। फिर राजा सिन्धुल दिवंगत हो गए। तब मुंज ने बुद्धिसागर नामक मन्त्री को हटाकर दूसरा मंत्री नियुक्त कर लिया। भोज की शिक्षा-दीक्षा की व्यवस्था करवाई। एक दिन एक ज्योतिषी ने आकर भोज के विषय में

1. द्रष्टव्य : उपा॰ बल॰ - स॰ सा॰ का इति॰, पृ॰ 471, व्यासशिष्य कुँवरलाल, ए॰ बी॰ कीथ आदि।
2. माथुर, वि॰ : ऐतिहासिक स्थानावली, पृ॰ 466
3. डा॰ नगेन्द्र : भा॰ सा॰ कोश, पृ॰ 887

भविष्यवाणी की कि पचपन वर्ष, सात माह और तीन दिनों तक गौड देश सहित दक्षिणापथ पर भोज राज्य करेंगे। मुंज ने इस बात से व्यथित होकर, बंगराज वत्सराज को बुलाकर, भोज के वध की आज्ञा दी। इस समाचार से नगर में कोलाहल फैल गया तथा भोज की माता सावित्री भी शोक-निमग्न हो गईं। परन्तु, कुमार भोज के वचनों को सुन, उनका वध करने हेतु गए वत्सराज के मन में विरक्ति उत्पन्न हो गई और उसने उनका वध नहीं किया। कुशल शिल्पियों द्वारा भोज के सिर की एक प्रतिकृति बनवाकर मुंज को दी तथा भोज का पत्र भी दिया, जिसे पढ़कर मुंज को अपने किए पर पश्चाताप होने लगा। उसने प्रायश्चित-स्वरूप अग्नि-प्रवेश का निश्चय किया। तब बुद्धिसागर एवं वत्सराज ने योजना बनाकर भोज की वापसी का प्रबन्ध किया। सब ओर यह वार्ता फैल गई कि किसी योगी ने भोज को जीवित कर दिया। तब मुंज भोज को गले लगाकर खूब रोया। उसे अपना पुत्र जयन्त तथा राज्य देकर, मुंज परलोक सुधारने वन को चला गया।

मूल कथा

इस भाग में गोविंद, शंकर, कालिदास, लक्ष्मीधर, सीता, बाणभट्ट, क्रीडाचंद्र, मयूर, वररुचि, महेश्वर तथा माघ आदि प्रसिद्ध एवं अप्रसिद्ध कवियों के नाना चरितों तथा उनके द्वारा की गई भोजराज की भिन्न-भिन्न स्तुतियों का वर्णन है। अन्त में, कवि कालिदास भोजराज से कुछ रुष्ट होकर विलासवती नामक वारांगना के साथ एकशिलानगरी चले जाते हैं। वहां भोज भी योगी का वेष बनाकर पहुँच जाते हैं। कालिदास उस योगी को भोजराज की मृत्यु का (मिथ्या) समाचार सुन विलाप करते हुए एक श्लोक[1] पढ़ते हैं, जिसे सुनकर योगी (राजा) मूर्च्छित हो गए। तब सच्चाई को समझे हुए कालिदास ने उसी श्लोक को दूसरी तरह से पढ़ा[2], तब भोज उनका आलिंगन करके उन्हें सादर धारा नगरी को ले गए।

प्रेरणा स्रोत

1. भोजप्रबन्ध : श्लोक 326, पृ॰ 165
2. -वही, श्लोक 327

संस्कृत साहित्य के इतिहास में, मेरुतुंगाचार्य के 'प्रबन्धचिंतामणि' तथा राजशेखर सूरि के 'प्रबन्धकोश' का विशिष्ट स्थान है। इन दोनों ग्रंथों का प्रणयन भोजप्रबन्ध से काफी पहले हो चुका था[1]। इन दोनों में, गद्य-पद्यात्मक शैली में, अनेक राजाओं, उनके कृपापात्र कवियों तथा विद्वानों के विषय में अनेकानेक कथाओं का संग्रह किया गया है। प्रबन्ध चिंतामणि में तो, भोज के पितृव्य मुंज तथा स्वयं भोज के विषय में भी कथाओं का संग्रह किया गया है। संभवतः श्रीबल्लाल को भोजराज के विषय में, इस प्रकार के कथानकों के संग्रह की प्रेरणा इन्हीं से मिली हो। ग्रंथ के साथ प्रयुक्त 'प्रबन्ध' पद भी इसी तथ्य का संकेत प्रतीत होता है। परन्तु, यह मात्र एक कथा-संग्रह न होकर, एक उद्देश्यात्मक ग्रन्थ है[2]।

कृति का मूल्यांकन

संस्कृत वाङ्मय के इतिहासकारों की दृष्टि में, श्रीबल्लाल कृत भोजप्रबन्ध, सर्वाधिक कुख्यात एवं अविश्वसनीय ग्रंथ है[3]। प्रसिद्ध भारतीविद्याविद् डा॰ एम॰ विन्तर्नित्स के अनुसार, 'यह पुस्तक कभी भी ऐतिहासिक साहित्य के अन्तर्गत नहीं मानी जा सकती। इसमें सर्वत्र अनैतिहासिकता पराकाष्ठा पर पहुँच गई है तथा बहुत से पूर्व समय के अनुसंधायकगण इसके कारण धोखा खा चुके हैं[4]।

वैसे, प्रबन्ध ग्रंथों की यह एक परम्परा-सी रही है कि जहाँ ये हमें प्राचीन राजाओं, मंत्रियों, कवियों तथा अन्य व्यक्तियों एवं घटनाओं आदि की सूचना देते हैं, वहीं इनके द्वारा प्रदत्त सूचना की प्रामाणिकता संदिग्ध भी है, क्योंकि उनमें दी गई सूचनाओं का प्रायः अन्य ऐतिहासिक

1. शास्त्री शिवराज : भोज प्रबन्ध, भूमिका
2. उद्देश्य के विस्तार हेतु कृपया इसी पुस्तक का शिल्प-अध्याय देखें।
3. दे॰ – प्रो॰ ए॰बी॰ कीथ : स॰ सा॰ का इतिहास, पृ॰ 365
   कृष्ण चैतन्य : ए न्यू हिस्ट्री आफ स॰ लि॰, पृ॰ 397
   सु॰ च॰ बनर्जी : ए कम्पेनियन टु स॰ लि॰, पृ॰ 160
   ग॰ रा॰ गर्ग : एन इनसाइक्लोपीडिया आफ इंडियन लि॰, पृ॰ 54
4. डा॰ एम॰ विन्तर्नित्स : संस्कृत काव्य का इतिहास, पृ॰ 447-48

स्रोतों यथा दानपत्रों, शिलालेखों आदि से प्राप्त सूचना से विरोध पाया जाता है। भोजप्रबन्ध भी इसी पथ का पथिक है। प्रथमतः इसमें वर्णित मुंज द्वारा भोज की हत्या का षड्यन्त्र, अप्रामाणिक, अनैतिहासिक तथा संभवतः किंवदन्ती पर आधारित है। शिलालेखों के आधार पर इस तथ्य की पुष्टि होती है कि मुंज या वाक्पतिराज सिन्धुराज के अग्रज थे।[1] सिंधुराज के ही उत्तराधिकारी एवं पुत्र थे भोजराज। पद्‌मगुप्त, जो कि मुंज एवं सिंधुराज के दरबारी कवि थे, ने लिखा है कि अंबिका नगरी जाने से पूर्व मुंजराज ने राज्यभार अपने अनुज सिंधुराज को दे दिया था। इस युद्ध से (जो कि तैलप द्वितीय के साथ हुआ था) मुंजराज वापस नहीं लौटे थे (अर्थात् वीरगति पा गए थे)[2]।

तिलकमंजरी के रचयिता धनपाल कवि, जो कि राजा भोज के समकालीन कहे जाते हैं, लिखते हैं कि मुंज का अपने भतीजे पर अपार स्नेह था और इसी के वशीभूत हो, उन्होंने भोज को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया था।

अतः, इन प्रमाणों से उपरोक्त दन्तकथा की अप्रामाणिकता एवं अनैतिहासिकता स्वयमेव उद्‌घाटित हो जाती है।

और फिर, भोजराज के दरबार में, वररुचि, दण्डी, कालिदास, माघ, बाण, मयूर तथा भवभूति को ला बिठाना, इतिहास की दृष्टि से असंगत है। संस्कृत साहित्य के इतिहास का पर्यालोचन हमें इस तथ्य से अवगत कराता है, कि, ये सभी विद्वान्, अलग-अलग समय पर हुए हैं। और सभी भोजराज से प्राचीन हैं। हाँ, यह अवश्य सही है कि 'नवसाहसांकचरित' के रचयिता पद्‌मगुप्त, मुंजराज एवं भोजराज के दरबारी कवि थे, और वे 'परिमल कालिदास' की उपाधि से अलंकृत भी थे, परन्तु यदि यहाँ इन्हीं का संकेत है और वास्तविक कालिदास का नहीं, तब भी बाण, मयूरादि को भोज के दरबार में उपस्थित करने की विसंगति तो बनी ही रहती है। अतः 'रघुकार कालिदास' भी भोजराज के ही दरबार को विभूषित करते थे, यही प्रार्थना ग्रंथ-प्रणेता का उद्देश्य

1. एपिग्राफिया इण्डिका, खण्ड 16, पृ. 235
2. डॉ. एम. सिंहः भोज परमार एण्ड हिज़ टाइम्स, पृ. 27-28

प्रतीत होता है।

अपि च, अनेक प्राचीन पद्यों को, जो कि भर्तृहरि के ग्रंथों, पंचतंत्र, महाभारत आदि से लिए गए हैं, अन्य कवियों के नाम से भोजप्रबन्ध में उद्धृत किया गया है।

सारांशतः संस्कृत साहित्य के इतिहासकारों ने, भोजप्रबन्ध को ऐतिहासिक दृष्टि से सर्वथा अनुपादेय, अप्रामाणिक, अनैतिहासिक एवं भ्रामक घोषित किया है।

परन्तु, ऐसा प्रतीत होता है कि ये सब साहित्यकार एवं इतिहासकार, इस दोषारोपण के समय, इस महनीय तथ्य को विस्मृत कर देते हैं कि श्रीबल्लाल एक कवि हैं और कवि क्रान्तद्रष्टा होता है, वह सर्वज्ञ, प्रतिभाशाली और बुद्धिमान् होने के साथ-साथ स्रष्टा[1] भी होता है, वह सर्वतन्त्र स्वतन्त्र होता है और स्वेच्छा से अपने नवीन कल्पनालोक का निर्माण कर सकता है। और फिर, भोजप्रबन्ध कोरी गप्प या कपोल-कल्पना नहीं है। इसमें चित्रित यथार्थ पर आधारित कल्पना संस्कृत-साहित्य में प्रायः दुर्लभ ही हैं। अपने इच्छित मनोभावों की पूर्ति करने वाली, मनोभावाभिव्यक्ति की इस विधा को पाश्चात्य काव्य-जगत्, आज 'फैण्टेसी' के नाम से जानता है।[2] कवि श्रीबल्लाल, सुदूर अतीत में, भारत में, इसी विधा के पोषक एवं परिवर्द्धक प्रतीत होते हैं। भोजप्रबन्ध में प्रयुक्त इस अभिव्यक्ति-विधा की विस्तृत विवेचना तृतीय अध्याय में, इसके कला-पक्ष की समीक्षा के समय की जाएगी।

साथ ही भोजप्रबन्ध में कविकुलगुरु कालिदास की भाँति, श्रीबल्लाल कहीं भी कोई भी ऐसी पूर्वोद्घोषणा नहीं करते कि मैं इतिहास लिखने जा रहा हूँ, अथवा जो वर्णन भोजप्रबन्ध में उल्लिखित है, उन्हें अक्षरशः सत्य एवं पूर्णतया ऐतिहासिक माना जाए।

हां, ग्रन्थारम्भ में उन्होंने 'प्रबन्ध' पद का प्रयोग अवश्य किया है[3]। प्रबन्ध पद एक ओर जहाँ साहित्यिक कृति अथवा रचना के अर्थ में प्रयुक्त

---

1. आप्टे वा० शि० : संस्कृत-हिंदी कोश, पृ० 259 'कवि'।
2. इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका : भाग 18
3. 'स्वस्ति श्रीमहाराजाधिराजस्य भोजराजस्य प्रबन्धः कथ्यते'। भो० प्र०, द्रष्टव्य- पृ.105

होता है वहीं दूसरी ओर यह कल्पना, झूठमूठ की कहानी अथवा किसी कथ्य के उपस्तर पर आधारित कल्पना–कृति के लिए भी प्रयोग में आता है–'प्रबन्धकल्पनां स्तोकसत्यां प्राज्ञाः कथां विदुः।[1] अतः प्रयुक्त पद के चयन में कवि ने जैसी सावधानी दिखाई है, आलोचकों से उसके अर्थ–निर्धारण में भी वैसी ही सावधानी अपेक्षित है।

ऐसी स्थिति में श्रीबल्लाल कवि को इस प्रकार के अभियोगों एवं उनके ग्रंथ को ऐसे–ऐसे 'विशेषणों' से 'उपकृत' करना, कहाँ तक उचित है, इसका निर्णय विद्वत्समुदाय स्वयमेव करने में समर्थ हो।

---

1. आप्टे, वा॰ शि॰ : संस्कृत–हिंदी कोश, पृ॰ 666

2

भोजप्रबन्ध : एक रचनात्मक विमर्श

चम्पू काव्य का उद्‌भव एवं विकास

मानव जब अपने जीवन में होने वाली अनुभूतियों को वाणी के माध्यम से अभिव्यक्त करता है, तब अनुभूति और अभिव्यक्ति का यह मणि-कांचन योग वाङ्‌मय कहलाता है। वैदिक काल से लेकर आज तक संस्कृत वाङ्‌मय की धारा अजस्र गति से प्रवाहित हो रही है। आचार्य राजशेखर ने वाङ्‌मय को दो वर्गों में विभाजित किया है–

इह हि वाङ्‌मयमुभयथा शास्त्रं काव्यं च।[1]

यहाँ शास्त्र से ज्ञानात्मक साहित्य तथा काव्य से रागात्मक साहित्य उन्हें अभिप्रेत है। शास्त्रीय वाङ्‌मय देश-काल एवं समाज की परिस्थितियों के परिवर्तित होने तथा नए-नए अन्वेषण और वैज्ञानिक अनुसन्धानों की प्रगति के कारण भले ही पुरातन हो जाए, पर रागात्मक साहित्य या काव्य नित नूतन रहता है, क्योंकि वह कवि की कृति होता है–कवेः कृतिः काव्यम्। कवि सामान्य प्राणियों से भिन्न होता है। उसका हृदय सामान्य जन की अपेक्षा अधिक संवेदनशील होता है। जीवनानुभवों से उत्पन्न संवेगों को वह सक्षमता एवं ओजस्विता से वाणी द्वारा मुखरित कर सकता है। इन्हीं संवेगों को मुखरित करने हेतु अभिव्यक्ति की अनेकानेक विधाओं का जन्म होता है।

कवि के संवेगों को सहृदय इन्द्रियों (अर्थात् नेत्र श्रोत्र) से ग्रहण करते हैं। अतः इन्द्रियग्राहिता के आधार पर काव्य के दो भेद किए जाते हैं। श्रव्य-काव्य एवं दृश्य काव्य।[2]

1. राजशेखर : काव्यमीमांसा, अध्याय 2, पृ॰ 5
2. भरतमुनिः ना॰ शा॰ (32/385) दृश्यश्रव्यत्वभेदेन पुनः काव्यं द्विधा मतम्।

इनमें से श्रव्यकाव्य के, शैली के आधार पर तीन भेद किए गए हैं– पद्यकाव्य, गद्यकाव्य और मिश्र काव्य[1]। छन्दोबद्ध पद पद्य, छन्दविहीन पद गद्य और गद्य-पद्य की मिश्रित शैली में निर्मित काव्य को मिश्र काव्य कहते हैं।[2] वैसे तो, रूपक, उपरूपक आदि भी मिश्रशैली में लिखे जाते हैं, पर वे दृश्य-काव्य के अन्तर्गत आते हैं।

काव्य में मिश्रशैली को अपनाने का उद्देश्य, गद्य-काव्य के अर्थ-गौरव तथा पद्य काव्य की रागमयता को एकत्र सन्निविष्ट करना है। श्रव्यकाव्य के अन्तर्गत प्रबन्धात्मक मिश्र काव्य का सर्वोत्कृष्ट अंग चम्पूकाव्य है।[3] 'चम्पू' शब्द की व्युत्पत्ति, चुरादि गण के गत्यर्थक 'चपि' से 'उ' प्रत्यय लगाकर 'चम्पयति इति चम्पूः' की गई है। इसके अनुसार, अन्य काव्यों की भांति चम्पू-काव्य में भी सहृदय हृदय को चमत्कृत, पवित्र, विस्मित और प्रसन्न करने की अद्‌भुत क्षमता होनी चाहिए।[4]

विभिन्न काव्यशास्त्रीय आचार्यों द्वारा चम्पूकाव्य की परिभाषाओं का समीक्षात्मक विश्लेषण कर, निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि गद्य-पद्य-मिश्रित काव्य, चम्पू-काव्य कहलाता है। इसमें गद्य-पद्य की मात्रा निश्चित नहीं है। गद्य और पद्य, वर्णन के किसी विशेष अंश के लिए सुरक्षित न रहकर समान रूप से व्यवहृत हुए हैं। चम्पू-काव्यों का अंगीरस कोई भी हो सकता है।[5]

वैसे तो गद्य-पद्य मिश्र शैली का आरम्भिक रूप ब्राह्मण ग्रन्थों के उपाख्यानों में उपलब्ध होता है, पर उपलब्ध चम्पू-काव्यों में प्रथम एवं साहित्यिक सौष्ठव की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण कृति त्रिविक्रम भट्ट कृत नल-चम्पू है।[6]

---

1. काव्यादर्श (1.11)-'गद्यं पद्यं च मिश्रं च तत् त्रिधैव व्यवस्थितम्।'
2. राजवंश सहाय 'हीरा'– भातीय साहित्यशास्त्र कोश, पृ. 369
3. त्रिपाठी, छवि - चम्पू-काव्य का आलो॰ एवं ऐति॰ अध्ययन, पृ॰ 27
4. –वही, पृ॰ 38
5. गद्यपद्यमयं काव्यं चम्पूरित्यभिधीयते। –सा. दर्पण, 6.336
   अपि द्रष्टव्य काव्यादर्श, 1.31, काव्यानुशासन 8.9, आदि
6. त्रिपाठी, छवि –वही, पृ॰ 101

संस्कृत-साहित्य के विशाल भण्डार में, चम्पू-काव्यों की संख्या सीमित है। इनका वर्णन-क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है-यात्रा-प्रबन्ध, ऐतिहासिक चरित्र, स्थानीय देवता तथा उनके महोत्सवों के वर्णन-सम्बन्धी काव्य भी उपलब्ध होते हैं।[1] सामान्यतया, चम्पू-काव्यों के लोकप्रिय स्रोत हैं-रामायण, महाभारत, पुराण, जीवन-चरित, तथा काल्पनिक कथाएं।[2]

कालक्रम की दृष्टि से दसवीं शती से पंद्रहवीं शती तक सीमित चम्पू रचे गए, पर ये काव्य-सौष्ठव-युक्त हैं। चम्पूकाव्यों का द्वितीय उत्थान-काल सोलहवीं शती के आरम्भ से लेकर सत्रहवीं शती का पूर्व चरण माना जा सकता है। (श्रीबल्लाल इसी कालावधि में हुए थे)।

इनका तृतीय उत्थान-काल सत्रहवीं शती के उत्तरार्द्ध से अठारहवीं शती के पूर्वार्द्ध तक हुआ तथा इसके पश्चात् का काल चम्पू काव्यों के ह्रास का काल है।[3]

उपर्युक्त तथ्यों के प्रकाश में देखने पर ज्ञात होता है कि भोजप्रबन्ध भी एक चम्पू है। चम्पू-काव्य का सर्वाधिक महत्त्वपूर्व लक्षण है (गद्य पद्यमयं काव्यं चम्पूरित्यभिधीयते) तो इसमें प्राप्त होता ही है, साथ ही इसमें उपर्युक्त लक्षण में अविद्यमान तत्त्व प्रबन्धात्मकता भी मिलता है। प्रबन्धात्मकता, चम्पू-काव्य का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तत्त्व है, जिसके अभाव में चम्पू-काव्य प्रभावहीन तथा दुर्बल प्रतीत होते हैं[4]।

भोजप्रबन्ध के प्रणयन में श्रीबल्लाल कवि ने पद्यों का उत्कृष्ट उपयोग किया है। गद्य भाग कम ही है, पर जितना भी है, वह सरस तथा सरल है।[5] श्रीबल्लाल द्वारा किया गया गद्य एवं पद्य का यह नियोजन वस्तुतः, एक श्लाघ्य प्रयास कहा जा सकता है। गद्य-पद्यात्मक शैली में, भोजराज की कथा को, अपने उद्देश्य-पूर्ति हेतु, श्रीबल्लाल ने अद्‌भुत कल्पना से गति प्रदान की है। इस प्रकार भोज-प्रबन्ध एक कथा-संग्रहात्मक

---

1. वही, पृ॰ 260
2. वही, पृ॰ 260-270
3. वही, पृ॰ 276
4. वही, पृ॰ 40
5. द्रष्टव्यः इसी पुस्तक का तृतीय अध्याय : शिल्प-विवेचन।

चम्पू सिद्ध होता है। अब पहले इसके पद्यों तथा फिर गद्य भाग का विवेचन किया जा रहा है।

भोजप्रबन्ध में पद्य

भोजप्रबन्ध में 327 श्लोकों का सावधानी एवं युक्तिपूर्वक समावेश करके श्रीबल्लाल ने उसकी श्रीवृद्धि की है। इन पद्यों के अभाव में भोजप्रबन्ध सम्भवतः उस प्रसिद्धि से वंचित रह जाता, जो अद्य इसे प्राप्त है। ये सभी श्लोक श्रीबल्लालकृत नहीं हैं। इनमें से कुछ प्राचीन, प्रसिद्ध काव्यों में से लिए गए हैं तथा कुछ अन्य प्राचीन कवियों द्वारा रचित हैं। परन्तु, कवि श्रीबल्लाल ने अपने मनोवांछित की अभिव्यक्ति हेतु, जिस अनुपम प्रतिभा एवं नैपुण्य का परिचय, इनके संयोजन में दिया है, वह वस्तुतः सराहनीय है। कहीं भी ऐसा प्रतीत नहीं होता कि ये प्रक्षिप्त हैं अथवा अनुचित स्थान पर जोड़े गए हैं। इनमें कहीं भी तारतम्य का अभाव दृक्गोचर नहीं होता।

वर्ण्य-विषय की दृष्टि से, भोजप्रबन्ध के पद्यों को हम निम्नतया वर्गीकृत कर सकते हैं-

1. नीतिपरक पद्य एवं सुभाषित
2. समस्या-पूर्तिपरक
3. प्रकृति-चित्रण सम्बन्धी
4. भोज की स्तुतिपरक पद्य

भोजप्रबन्ध में नीति-तत्त्व

'सर्वलोकव्यवहारस्थितिर्नीत्या विना नहि' अर्थात् नीति के अभाव में लोक-व्यवहार की स्थिति असम्भव है। संस्कृत साहित्य में धर्म और शृंगार आदि की सतत् प्रवाहशील धाराओं के साथ-साथ नीति की धारा भी अतिप्राचीन काल से ही अविरलरूपेण बहती चली आ रही है। जीवन की गहन अनुभूतियों को, प्राचीन भारत के मनीषियों ने काव्यमयी भाषा में, जन-कल्याणार्थ प्रस्तुत किया है। इस प्रकार नीति, भूतकाल की उपलब्धियों का सार एवं वर्तमान युग की पथ-प्रदर्शिका होती है।

संकटावस्थ मानव को नीति की ये बातें बन्धु-जन एवं हितैषियों की भाँति, उचित मार्ग के अनुसरण की प्रेरणा सदा से देती आई हैं। नीति के इसी माहात्म्य को ध्यान में रखते हुए श्रीबल्लाल कवि ने नीति-परक मुक्त एवं पद्यों को यत्र-तत्र ग्रथित कर, भोजप्रबन्ध की श्रीवृद्धि की है। इन नीति-तत्त्वों के अवलोकन से पूर्व, यह जान लेना चाहिए कि नीति वस्तुतः क्या होती है और इसकी काव्य में क्या उपयोगिता है?

नीति शब्द 'णीञ् प्रापणे' धातु से निष्पन्न हुआ है, जिसका शाब्दिक अर्थ होता है, ले जाना। अतः, धातु की दृष्टि से नीति उसे कहा जा सकता है, जो ले जाने वाली हो। अर्थात् जो मानव को उचित मार्ग का निर्देश करे, वह नीति है। प्राचीन भारत के प्रसिद्ध नीतिकार शुक्र मुनि के अनुसार, नीति चतुर्वर्ग फल को प्रदान करने वाली है। साथ ही, नीतिशास्त्र समस्त संसार का उपकारक एवं समाज में मर्यादा को प्रतिष्ठित करने वाला होता है। नीतिमंजरीकार के अनुसार, जो नियम कर्तव्याकर्त्तव्य का सम्यक् निरूपण करते हैं, उन्हें नीति की संज्ञा दी जाती है।

वर्गीकरण

व्यवहार की दृष्टि से नीति को तीन भागों में वर्गीकृत किया जा सकता है-

(1) व्यवहार नीति : इसके द्वारा प्रायः विविध लौकिक, सामाजिक एवं व्यावहारिक मर्यादाओं की रक्षा तथा उनके अनुकूल आचरण करने में मनुष्यों को प्रवृत्त किया जाता है।

(2) राजनीति : इसमें राजा, राज्य शासन सम्बन्धी नीति-तत्त्वों (यथा सप्तांग, कर-व्यवस्था आदि) का निर्देश किया जाता है।

(3) धर्मनीति : नीति का यह प्रकार, व्यक्ति की आध्यात्मिक उन्नति के साथ-ही-साथ, उसका भौतिक अभ्युदय-कारक भी होता है।

संस्कृत वाङ्मय में हमें नीति-वचन दो रूप में मिलते हैं-

(1) नीति ग्रन्थों के रूप में प्रतिपादित नीति।

इसके अन्तर्गत, नीति-शास्त्र के प्रतिपादक उन ग्रन्थों को रखा जाता है, जिनका प्रधान उद्देश्य ही नीति सम्बन्धी विवेचन प्रस्तुत करना हो। यथा-चाणक्य नीति, नीति शतक, कामन्दक नीतिसार इत्यादि।

(2) कथा-काव्यों में उपलब्ध होने वाली नीति।

अत्यन्त विस्तृत एवं सुविशाल इस संस्कृत साहित्य में विकीर्ण रूप में, यत्र-तत्र उपलब्ध होने वाली नीति की उक्तियां इसी वर्ग में रखी जाती हैं। यथा-हितोपदेश, भोजप्रबन्ध इत्यादि। जब हम लोकरंजनार्थ प्रणीत भोजप्रबन्ध प्रभृति ग्रन्थों में भी नीति तत्त्वों का ऐसा समावेश देखते हैं तो अनायास ही यह प्रश्न उठ सकता है कि क्या वास्तव में हमें नीति-सम्बन्धी उपदेशों की आवश्यकता होती है?

अत्यन्त प्राचीन काल से ही, भारतीय मनीषियों ने अपनी अगाध अन्तश्चेतना एवं गहन मनन के द्वारा उपलब्ध जीवन की हृदयस्पर्शी अनुभूतियों को, समाज के लिए, नीति के रूप में प्रस्तुत करने का महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। नीति-उपदेशों की आवश्यकता का प्रश्न अवश्यमेव उनके समक्ष भी रहा होगा। महाभारत (शान्ति पर्व, 59 सर्ग) में, नीति-शास्त्र के उद्‌भव की ओर संकेत इस कथा में दिया गया है।

युधिष्ठिर द्वारा पूछे जाने पर भीष्म पितामह ने नीति शास्त्र के उद्‌भव की ओर संकेत किया। वे कहते हैं कि सृष्टि के आरम्भ में न कोई राजा था और न कोई दण्ड। समस्त प्रजाजन धर्म के सहारे एक-दूसरे की रक्षा करते थे, परन्तु कुछ ही समय पश्चात् मनुष्यों में धर्म का लोप हो गया। उनकी विवेक शक्ति क्षीण हो गई तथा उनके पाप-पथ पर चलने से, सारे संसार में हाहाकार मच गया। इस परिस्थिति से सन्त्रस्त हो, देवगण ब्रह्मा के पास गए और उन्होंने संसार में बढ़ती अनाचारिता को रोकने हेतु सम्बन्ध में उनसे निवेदन किया। ब्रह्मा ने विश्व को सन्मार्ग पर लाने के लिए एक नीति-शास्त्र की रचना की,

जिसमें एक लाख अध्याय थे। ब्रह्मा ने कहा कि इसके अध्ययन से लोक-रक्षा का ज्ञान उत्पन्न होगा। समाज में व्यवस्था स्थापित करने तथा प्रजा को सुख और शान्ति प्रदान करने का महान् कार्य इससे सम्पन्न होगा। परन्तु अत्यन्त विशालकाय होने तथा प्रजावर्ग की अल्पायु को ध्यान में रखकर शिव ने 'वैशालाक्ष' नामक इसका संक्षिप्त संस्करण तैयार किया। इन्द्र को यह भी बड़ा लगा तो उन्होंने 'बाहुदन्तक' नामक पाँच हज़ार अध्याय वाला और संक्षिप्त संस्करण कर डाला। बृहस्पति ने 'बार्हस्पत्य' नामक एक और लघु संस्करण निकाला। महर्षियों ने आयु का ह्रास देख, उसका क्रमशः संक्षिप्त रूप कर डाला। योगाचार्य शुक्र ने 'शुक्रनीति' नाम से इसका एक हज़ार अध्याय वाला एक संस्करण रचा।

इस कथा से स्पष्ट हो जाता है कि मनुष्य एक स्खलनशील प्राणी है और समय-समय पर उसके स्खलनशीलत्व से उत्पन्न सामाजिक दुर्व्यवस्था तथा नैतिक पतन के निवारण हेतु, भारतीय मनीषी प्राचीन काल से ही सगज एवं प्रयत्नशील रहे। जीवन के शिव एवं सुन्दर रूपी अक्षुण्ण आदर्श सदैव उनके समक्ष रहे और समय-समय पर दृष्टि-पथ में आने वाले दूषित कृत्यों एवं दुर्भावनाओं के विरुद्ध अपने विचारों को मुखरित करने में उन्होंने कभी कोई संकोच नहीं किया। इसी कारण से, यत्र-तत्र-सर्वत्र नीति की सूक्तिमुक्तामणियां हमें अनायास ही दृष्टिगोचर हो जाती हैं। वे महान् मनीषी सदैव इस बात के लिए सजग थे कि समाज और व्यक्ति के दोषों एवं दुर्भावनाओं को दूर किया जाए तथा उनके स्थान पर सद्गुणों और सद्भावनाओं का उन्नयन हो। यथार्थ का चित्र उपस्थित करते हुए भी समाज के उन्नायक तत्त्वों की ओर से वे कभी विमुख नहीं हुए। यही कारण है कि भारतवर्ष ने सदैव सबको चरित्र की शिक्षा प्रदान की है। मनीषियों की वे सूक्तियां सदा प्रत्येक व्यक्ति को सुख और दुःख में, उचित मार्ग के अनुसरण का निर्देश देते हुए, उसे कुपथ से हटाकर सुपथ की ओर प्रेरित करने में सतत् प्रयासरत रहती हैं और आचार्य मम्मट द्वारा निर्दिष्ट 'कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे' युक्ति से समाज के चारित्रिक एवं नैतिक उत्थान हेतु मार्ग-प्रशस्त करती है। आइये, अब इन्हीं तथ्यों के प्रकाश में, भोजप्रबन्ध में वर्णित नीति-तत्त्वों का अवलोकन करें।

पहले दिए गए वर्गीकरण की दृष्टि से, भोजप्रबन्ध में नीति-परक पद्यों के अध्ययन से हमें ज्ञात होता है कि श्रीबल्लाल एक व्यवहार-कुशल कवि हैं। इस ग्रंथ में नीति-सम्बन्धी अधिकांश पद्य व्यवहार-नीति से सम्बद्ध हैं। राजनीति सम्बन्धी पद्य दूसरे स्थान पर और धर्म-नीति सम्बन्धी पद्य तो नाममात्र को ही हैं। इसका एक कारण सम्भवतः यह हो सकता है कि श्रीबल्लाल जिन परिस्थितियों में भोजप्रबन्ध का प्रणयन कर रहे थे, उन परिस्थितियों में, राजनीति एवं धर्मनीति की अपेक्षा व्यवहार-नीति की आवश्यकता अधिक थी।

श्रीबल्लाल मनुष्य के अन्तर्मन की दुर्बलताओं से भली-भांति परिचित हैं। वे जानते हैं कि लोभ समस्त कुवृत्तियों एवं पापाचरणों का मूल है। इसीलिए भोजप्रबन्ध के प्रथम श्लोकत्रय में उन्होंने लोभ तथा उसके दुष्प्रभावों का निरूपण किया है-

लोभः प्रतिष्ठा पापस्य प्रसूतिर्लोभ एव च।
द्वेषक्रोधादिजनको लोभः पापस्य कारणम्।। 1।।

लोभात्क्रोधः प्रभवति क्रोधाद् द्रोहः प्रवर्तते।
द्रोहेण नरकं याति शास्त्रज्ञोऽपि विचक्षणः।। 2।।

मातरं पितरं पुत्रं भ्रातरं वा सुहृत्तमम्।
लोभाविष्टो नरो हन्ति स्वामिनं वा सहोदरम्।। 3।।

अर्थात् लोभ पाप का उत्पादक एवं निवास स्थान है। द्वेष, क्रोधादि दुर्गुणों का जनक तथा पापों का मूल कारण यह लोभ ही है। लोभ से क्रोध उत्पन्न होता है और क्रोध से द्रोह। अच्छा-भला शास्त्रवेत्ता विद्वान् भी द्रोह के वशीभूत हो नरक को जाता है। लोभ से घिरा मनुष्य, माता, पिता, भाई, उत्तम मित्र, स्वामी अथवा सगे भाई तक को मार देता है। इस प्रकार सभी दुर्गुणों के मूल कारण के प्रथमोल्लेख से श्रीबल्लाल कवि की बुद्धिमत्ता का परिचय प्राप्त होता है।

लोभ तथा तज्जन्य दुष्परिणामों का पहले श्लोकत्रय में विवेचन करने के उपरान्त श्रीबल्लाल ने अगले दो श्लोकों में सब दुर्गुणों से बचने के एकमात्र उपाय की कुंजी पाठकों के हाथ में दी है और वह

है 'विद्या'।[1] जो कि माता के समान रक्षा करती है, पिता के समान हित में नियुक्त करती है, कान्ता के समान खेद को हटा कर प्रसन्नता प्रदान करती है, दिशाओं में शुभ्र यशको फैलाती है, लक्ष्मी का वर्द्धन करती है, अतः कल्पलता के समान विद्या मनुष्य का कौन-सा हित नहीं करती? और विद्वान् सदा इस विद्या का अपनी वाणी से प्रकाशन करते हैं।

निर्धनता मनुष्य की एक और शत्रु है। और वह भी इतनी प्रबल है कि श्रीबल्लाल के अनुसार, 'अति विचित्र बात है कि जब मनुष्य निर्धन हो जाता है, तब वे ही स्वस्थ इन्द्रियां, वही नाम, वही तीक्ष्ण बुद्धि और वही वचन होने पर भी (वही) मनुष्य अन्य सा ही प्रतीत होता है।[2] और दरिद्रता की ही दूसरी मूर्ति है याचना[3] क्योंकि जैसा कि हम सभी जानते हैं कि क्षण मात्र बरसने वाला बादल सभी को मनोहर लगता है तथा प्रतिदिन अपने किरणरूपी हाथों को फैलाने वाला सूर्य सबको सन्ताप ही देता है[4]। श्रीबल्लाल मनुष्य के बिना मांगे ही आए हुए सुखों तथा दुःखों में दीनता (दैन्य) को अधिक विशेष मानते हैं[5]। और इस निर्धनता से पिण्ड छुड़ाने हेतु मनुष्य को उद्यम करना चाहिए क्योंकि देह की अपेक्षा न करने वाले, निपुण, व्यवसायी तथा बुद्धि पूर्वक कार्य करने वालों के लिए कुछ भी दुष्कर नहीं है[6]। बुद्धिमता से मनुष्य के सभी कार्य सिद्ध होते हैं। जिस प्रकार छत्रधारी को जलवृष्टि कुछ नहीं कर सकती, उसी प्रकार बुद्धि से कार्य करने वाले का शत्रुगण कुछ नहीं बिगाड़ सकते[7]।

---

1. भो॰ प्र॰, श्लोक 4, 5
2. वही, श्लोक 7
3. वही, श्लोक 100
4. वही, श्लोक 102
5. वही, श्लोक 157
6. वही, श्लोक 8
7. वही, श्लोक 15
   (बुद्धिमत्ता के स्वरूप तथा विवेचनार्थ श्लोक सं॰ 12, 13, 14, 16, 23, 24, 26, 36 भी अवलोकनीय हैं।)

मनुष्य के जीवन में दैव, भाग्य, अथवा काल का बड़ा महत्त्वपूर्ण हाथ होता है। प्राचीन काल से ही इसके महत्त्व को पहचानते हुए, भारतीय कवियों एवं मनीषियों ने अपनी रचनाओं में इसके स्वरूप तथा महत्त्व को प्रकाशित किया है। श्रीबल्लाल ने भी काल अथवा दैव का अनेक स्थानों पर उल्लेख कर, इसके प्रति अपना आदर व्यक्त किया है। उनके अनुसार, आदान-प्रदान तथा करणीय कर्मों को, मनुष्य को शीघ्रतापूर्वक करना चाहिए, अन्यथा काल उसकी सम्पत्ति को पी जाता है (नष्ट कर देता है)[1]। और भी श्रीराम का वनगमन, बलि-बन्धन, पाण्डवों का वनवास, यादवों का वंशोच्छेद, नल का राजच्युत होना, कारागार में वास तथा पुनः स्वयंवर में वरण, रावण का निधन, इत्यादि सभी तो कालवश होकर नष्ट हुए हैं, कौन बच सका है[2]?

इन सब के अतिरिक्त श्रीबल्लाल ने भोजप्रबन्ध में जगह-जगह मूर्खता[3], विद्वान्[4], कृपण[5], धन[6], मित्र[7], दुष्ट[8], यश[9], प्रेम[10], एकता[11], शक्ति[12], आपत्ति[13], पौरुष[14], चित्त[15], तथा दान[16] आदि तत्त्वों से सम्बद्ध नीतिपूर्ण कथनों से इसे व्यावहारिक नीति का एक अत्यन्त शिक्षाप्रद ग्रन्थ बनाने का श्लाघ्य प्रयास किया है।

---

1. भो॰ प्र॰, श्लोक 11
2. वही, श्लोक 28, (श्लोक सं॰ 20, 21, 28, 29, 30, 31, 35, 38, 42, 54, 143, 144, 318 भी द्रष्टव्य)।
3. वही, श्लोक 12, 97, 135, 193
4. वही, श्लोक 12, 56, 128
5. वही, श्लोक 70, 117, 130, 132
6. वही, श्लोक 60, 63, 198
7. वही, श्लोक 78, 146, 147, 148
8. वही, श्लोक 39, 40
9. वही, श्लोक 53, 55, 120, 121 (शोभा) - 126, 131, 152, 308
10. वही, श्लोक 136, 137
11. वही, श्लोक 145
12. वही, श्लोक 151
13. वही, श्लोक 155, 156
14. वही, श्लोक 168, 169, 170, 171
15. वही, श्लोक 37, 81, 88, 90
16. वही, श्लोक 65, 71, 91, 103, 105, 106, 107, 116

राजनीति-परक पद्य

जैसा कि पहले उल्लेख किया जा चुका है, श्रीबल्लाल 16वीं शती में हुए थे। यह समय भाँति-भाँति की राजनैतिक गतिविधियों से आन्दोलित था। ऐसे समय की कोई भी रचना राजनीति से सर्वथा अछूती कैसे रह सकती थी? और फिर, भोजप्रबन्ध में हमें राजनीति सम्बन्धी पद्य भी प्राप्त होते हैं।

इस ग्रन्थ में प्रायः 15 पद्यों में ऐसे वर्णन हैं, जिन्हें राजनीति से सम्बद्ध कहा जा सकता है। इनकी संख्या इतनी कम होने का एक कारण संभवतः श्रीबल्लाल की राजनीति से अरुचि तथा दूसरा कारण, संस्कृत वाङ्मय में राजनय संबंधी, अनेकानेक ख्यातिलब्ध आचार्यों द्वारा प्रणीत ग्रंथों (यथा चाणक्य-नीति, कामन्दक नीति सार, विदुर नीति इत्यादि) का बाहुल्य, भी हो सकता है।

भोजप्रबन्ध में, राजा से संबद्ध नीति तत्त्वों का ही विवेचन प्राप्त होता है। श्रीबल्लाल के अनुसार, प्रजा सदा ही राजा की अनुवर्तिनी होती है, यदि राजा धर्मनिष्ठ है तो प्रजा भी होगी और यदि वह ही व्यभिचारी है, तब भी प्रजा उसकी अनुगामिनी होगी[1]। अतएव, राजा को अपने आचरण का ध्यान रखना चाहिए।

साथ ही राजा को यह भी ध्यान रखना चाहिए कि वह मन्त्री या स्त्रियों अथवा रानियों पर आवश्यकता से अधिक विश्वास न करे। उनकी मंत्रणा भले ही सुन ले, पर उन्हीं के वशीभूत होकर न रह जाए। अन्यथा उसका अकल्याण होता है। वैसे राजा के पास बुद्धिमान् मनुष्य प्रथम तो स्वेच्छावश जाते ही नहीं और यदि परिस्थितिवश उन्हें जाना ही पड़ जाए तो राजा के दुष्ट मन्त्री आदि के वश में होने से इन पण्डितों को वहां उपेक्षित होना पड़ता है। इन्हीं प्रौढ़ भावों का संयोजन हमें भोजप्रबन्ध के पद्यों[2] में प्राप्त होता है।

---

1. भो॰ प्र॰, श्लोक 44
2. भो॰ प्र॰, श्लो॰ 49, 50, 51, 140

राज्य के सप्तांग सिद्धान्त की चर्चा प्रायः सभी प्रमुख नीतिशास्त्रकारों ने अपने-अपने ग्रन्थों में की है[1]। राज्य के ये सात अंग हैं-स्वामी, अमात्य, जनपद, दुर्ग, कोश, दंड और मित्र। श्रीबल्लाल ने अत्यन्त युक्तिपूर्वक एक ही पद्य में इनमें से पाँच अत्यधिक महत्त्वपूर्ण अंगों का समावेश किया है, जो कि उनकी लाघवप्रियता के प्रमाण के रूप में उद्धृत किया जा सकता है। वे कहते हैं कि-

स जयी वरमातङ्गा यस्य तस्यास्ति मेदिनी।
कोशो यस्य स दुर्धर्षो दुर्गं यस्य स दुर्जयः।।[2]

अर्थात् जिसकी (राजा की) भूमि (राज्य), हाथियों से पूर्ण है (अर्थात् पराक्रमी सेना से रक्षित है) तथा जिसके पास कोश है तथा दुर्ग है, ऐसे राजा को कोई नहीं जीत सकता।

साथ ही, राजा का क्रोध तथा प्रसाद दोनों ही समानरूपेण फलदायी होने चाहिएं। श्रीबल्लाल के अनुसार, जिसकी प्रसन्नता से कोई लाभ नहीं तथा जिसके कोप से कोई भयभीत न हो, उस राजा को प्रजा उसी तरह नहीं चाहती, जिस तरह किसी क्लीव को स्त्रियां[3]। ये उपमा किंचित कटु अवश्य है, पर वर्ण्य की गंभीरता के प्रतिपादन के लिए काफी सटीक प्रतीत होती है।

राजा शासन का सर्वेसर्वा होता है। परन्तु, इस तथ्य को उसे कभी भी विस्मृत नहीं करना चाहिए कि उसे लोक-रंजन के लिए राजा बनाया गया है। इसी भाव को श्रीबल्लाल ने निम्नलिखित पद्य में व्यक्त किया है-

हिरण्यधान्यरत्नानि धनानि विविधानि च।
तथान्यदपि यत्किञ्चित्प्रजाभ्यः स्युर्महीभृताम्।।[4]

---

1. अर्थशास्त्र 6.1, मनु॰ 9. 294., महा॰ शां॰ प॰ 69.62, 63, विष्णुधर्मो॰ 3.33, याज्ञ॰-1. 353, शु॰ नी॰ सा॰, 1.61
2. भो॰ प्र॰, श्लोक 59
3. वही, श्लोक 47
4. वही, श्लोक 43

अर्थात् सुवर्ण, धान्य, रत्न, धन तथा विविध वस्तुएं, जो भी कुछ राजा का होता है, उसमें प्रजा का भी अधिकार होता है। इसीलिए, राजा को दान देना चाहिए क्योंकि जनवर्ग सदैव दाता को चाहता है, धनवान् को नहीं, जिस प्रकार वारिद (बादल : देने वाला) की आकांक्षा तो लोग करते हैं पर वारिधि (समुद्रः भण्डार) की नहीं[1]।

राजा का कर्तव्य यह भी है कि वह अपने राज्य में सद्गुणों के उन्नयन के लिए गुणियों को अवसर प्रदान करे। यही भाव प्रकट होता है इस श्लोक में, जहाँ श्रीबल्लाल ने महाराज भोज के मुख से कहलवाया है कि राजा गुणों (कला) का आदर करता है, कुलीनता का नहीं। जिस प्रकार, अनेक देवों के होने पर भी भगवान् शंकर ने कलावान् चन्द्र को ही सिर पर धारण किया था।[2]

श्रीबल्लाल के अनुसार, राजा को कवियों का भी विशेष आदर करना चाहिए क्योंकि कवियों द्वारा राजा के लिए की गई स्तुतियाँ युगों तक उसके यश की पताका को फहराती हैं। वे कहते हैं कि राजा का नाम बिना कविता के प्रसिद्ध नहीं होता और राजा के बिना कवि की भी कीर्ति संसार में नहीं फैलती। इसलिए, योग्य कवियों को आश्रय देने में, राजा को तत्पर रहना चाहिए[3]। इस प्रकार, श्रीबल्लाल ने अत्यन्त युक्तिपूर्वक, कवियों को अप्रत्यक्ष रूप से लाभान्वित किया है क्योंकि यदि कवियों को राज्याश्रय मिलेगा, तो निश्चय ही उनका कल्याण होगा।

धर्म के सम्बन्ध में, श्रीबल्लाल के विचार बड़े ही स्पष्ट हैं। किसी धर्मोपदेशक के समान, उन्होंने बालक भोज के मुखाम्भोज से धर्म से सम्बद्ध ये गूढ़ विचार प्रस्तुत किए हैं–

'एक एव सुहृद्धर्मो निधनेऽप्यनुयाति यः।
शरीरेण समं नाशं सर्वमन्यत्तु गच्छति।।[4]

---

1. वही, श्लोक 64, अपि च श्लोक 65
2. वही, श्लोक 68
3. भो॰ प्र॰, श्लोक 120
4. वही, श्लोक 32

अर्थात् धर्म ही एक ऐसा सुहृद् है, जो कि मृत्यु के उपरान्त भी मनुष्य के पीछे-पीछे जाता है, अन्य सब तो देह के साथ ही विनष्ट हो जाते हैं। कितनी सच्चाई एवं कितना गहन चिन्तन इस श्लोक में दृक्गोचर होता है। श्रीबल्लाल आगे कहते हैं-

न ततो हि सहायार्थे माता भार्या च तिष्ठति।
न मित्रपुत्रौ न ज्ञातिर्धर्मस्तिष्ठति केवलः।।[1]

अर्थात् मृत्यु के समय माता, भार्या, पुत्र, मित्र तथा जाति वाले (सगे-संबंधी) कोई भी सहायता के लिए साथ नहीं होते। (उस समय तो) केवल धर्म ही साथ रहता है। अपि च, धर्म से पराङ्मुख जन के विषय में श्रीबल्लाल का विचार है-

बलवानप्यशक्तोऽसौ धनवानपि निर्धनः।
श्रुतवानपि मूर्खश्च यो धर्मविमुखो जनः।।[2]

अर्थात् ऐसा मनुष्य जो धर्म से विमुख हो, वह बलवान् होने पर भी निर्बल, धनवान् होने पर भी निर्धन और विज्ञ होने पर भी अज्ञ होता है।

भोजप्रबन्ध में, एक स्थान पर, श्रीबल्लाल ने पूर्व कर्मों के फलों के विषय में अपने विचार प्रस्तुत किए हैं। 'कर्म' भारतीय दर्शन के मूलभूत तत्त्वों में अन्यतम है। भारतवर्ष में उपनिषद् काल में कर्म-सिद्धान्त का प्रतिपादन हुआ था, और तत्पश्चात् वेदमूलक दर्शनों के समान जैन तथा बौद्ध दर्शनों ने भी इसे वहीं से ग्रहण किया।[3] सभी भारतीय दर्शनों की मान्यताओं के अनुसार, जो कुछ कार्य हम अपने प्रयत्न से करते हैं, उसका फल अवश्य उत्पन्न होता है, उसका नाश कथमपि नहीं होता और जिस फल को हम इस समय भोग रहे हैं, वह पूर्व जन्म में कृत कर्म का ही परिणाम है। (कर्म-सिद्धान्त को मानने से ही, विश्व में यदृच्छा का स्थान समाप्त हो जाता है और सर्वत्र नैतिक सुव्यवस्था का साम्राज्य स्थापित होता है।) इसी प्रकार के भावों को श्रीबल्लाल ने श्लोक संख्या 304, 305 एवं 306 में यह कहकर मुखरित किया है कि-

1. वही, श्लोक 33
2. भो॰ प्र॰, श्लोक 34
3. भारतीय दर्शन-बल॰ उपा॰, पृ॰ 23

अयि खलु विषमः पुराकृतानां
भवति हि जन्तुषु कर्मणां विपाकः॥

श्लोक सं॰ 199, भी ऐसे ही भावों से परिपूर्ण है।

इस प्रकार, ये श्रीबल्लाल के धर्म सम्बन्धी विचार थे। जैसा कि पहले उल्लिखित है, धर्म सम्बन्धी अनेकानेक प्रौढ़ ग्रन्थों की उपलब्धता ने ही संभवतः भोजप्रबन्ध में श्रीबल्लाल को धर्म-सम्बन्धी अन्योन्य विचारों के ग्रथन से रोका हो।

यहाँ तक, भोजप्रबन्ध में आगत, नीति तत्त्वों का अध्ययन किया गया है। इनके अध्ययनोपरान्त, निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि श्रीबल्लाल वास्तव में एक कुशल नीतिज्ञ हैं और इन्होंने नीति सम्बन्धी (विशेषकर व्यवहार नीति से सम्बद्ध) तत्त्वों का जो प्रौढ़ प्रणयन भोजप्रबन्ध में किया है, वह सर्वथा स्तुत्य है। साथ ही राजनय तथा धर्म-सम्बन्धी उनके विचार भी स्पष्ट एवं परिपक्व हैं। भोजप्रबन्ध में इनके सुन्दर समावेश से कविवर इस ग्रन्थ को और अधिक श्रीयुक्त तथा लोकहितकारी बनाने में सफल हुए हैं।

समस्या-पूर्ति परक पद्य

भारतवर्ष में, अति प्राचीन काल से ही शारीरिक विकास के साथ-साथ, मनुष्य के बौद्धिक विकास की आवश्यकता को भी समझते हुए, उसके हेतु प्रयास किए जाते रहे। इस प्रकार के मस्तिष्क-व्यायाम को प्रहेलिका कहा जाता है। वैदिक काल से ही ये प्रयोग में लाई जाने लगी थीं। तब इन्हें प्रवलिका कहा जाता था और ये मुख्यतया आध्यात्मिक, आस्तिकतावादी विचारों की पोषक तथा कर्मकाण्ड-परक होती थीं।[1]

प्राचीन भारत में सदा से यह मान्यता समादृत होती आई है कि समय अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एवं बलशाली होता है। और बुद्धिमान् मनुष्य सदैव इस तथ्य का स्मरण रखते हुए समय के सदुपयोग हेतु प्रयासरत

1. प्रो॰ स्टर्नबक, लुडविग:इण्डियन रिडल्स:अ फारगॉटन चैप्टर इन द हिस्ट्री आफ स॰ लिट॰, पृ॰ 7

रहते हैं। इन लोगों का समय मूर्खों की भांति व्यर्थ के वार्तालाप में नहीं, अपितु, काव्य-शास्त्र विनोद में व्यतीत होता है। कहा भी गया है-

'काव्यशास्त्रविनोदेन कालो गच्छति धीमताम्॥'

और समय के साथ-साथ ही, राजा सभी प्रकार के कार्य-कलापों का केन्द्रबिन्दु बन गया और उसकी सभा सभी विद्वानों, कवियों एवं अन्य बुद्धिमानों की आश्रय-स्थली। राज्य के सात अंगों से एक सुदृढ़ राज्य की स्थापना होती है; इसी सप्तांग-सिद्धान्त की मान्यता के अनुरूप एक अन्य मान्यता का उदय हुआ, सभा के सप्तांग की!

इसके अनुसार, सात अंगों से ही एक उत्तम सभा का निर्माण होता है। ये सात हैं-

विद्वान्, कवि, भाट, विदूषक, गायक, इतिहासज्ञ एवं पुराणज्ञ।

विद्वांसः कवयो भट्टा गायकाः परिहासकाः।
इतिहासपुराणज्ञाः सभा सप्तांग-संयुक्ता॥

इस सभा में अनेक प्रकार के मनोविनोद हुआ करते थे। उन्हीं में से एक था– समस्या-पूर्ति। इसे चौंसठ ललित कलाओं में स्थान दिया जाना, इसके महत्त्व को घोषित करता है। महाकवि बाण के समय तक आते-आते इसकी अवधारणा में पर्याप्त अन्तर आ चुका था। वैदिक प्रवलिका अब लौकिक प्रहेलिका बन गई थी और यह यज्ञ-स्थलों से निकल कर राजसभाओं में प्रतिष्ठित हो चुकी थी। महाकवि बाण ने कादम्बरी में, राजाओं में होने वाले मनोविनोदों में, इसका भी उल्लेख किया है।[1]

भारतीय काव्यशास्त्र में भी, प्रहेलिकाओं पर, भिन्न-भिन्न आचार्यों ने अपने-अपने मत प्रस्तुत किए हैं। उल्लेखनीय है कि-भोजराज के 'सरस्वतीकण्ठाभरणम्'[2] को छोड़कर, अन्य काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में प्रहेलिकाओं को विशेष स्थान नहीं दिया गया है। भामह (2.9-10)

1. द्विवेदी, हजारी प्रसाद: प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद, पृ॰ 171
2. इसमें छह श्रेणियों में पहेलियों का विभाजन प्राप्त होता है।

कहते हैं कि प्रहेलिकाएँ यमक के प्रयोग से, अर्थ को गूढ़ बना देती हैं। साथ ही वे यह भी अनुभव करते हैं, कि प्रहेलिकाएं बिना व्याख्या अथवा टीका के अव्याख्येय होती हैं और ये बुद्धिमानों के लिए आनन्द स्रोत होती हैं और मूर्खों को लज्जित करने का साधन!

मम्मटाचार्य ने तो प्रहेलिकाओं का उल्लेख ही नहीं किया है, केवल चित्रकाव्य की ही बात कही है।[1] हेमचन्द्र (काव्यानुशासन 5.4) ने प्रहेलिका को क्रीडा माना है और उनके मत में, इसकी कोई काव्यात्मक उपादेयता नहीं है। आचार्य विश्वनाथ ने च्युताक्षर, दत्ताक्षर और च्युतदत्ताक्षर नामक इन तीन ही प्रहेलिकाओं का उल्लेख किया है।[2] इसी प्रकार, ध्वन्यालोक में भी है। सामान्यतया, हम यह देखते हैं कि पूर्ववर्ती काव्यशास्त्रीय आचार्यों ने तो फिर भी इसे साहित्यिक विधा मानते हुए, कुछ महत्त्व प्रदान किया है, परन्तु उत्तरवर्ती आचार्यों ने इसे केवल क्रीड़ा ही माना है।

प्रहेलिकाओं के विषय में विभिन्न सुभाषित-संग्रहों में हमें क्रमबद्ध विवरण प्राप्त होता है। इन संग्रहों में, इनका बारह प्रमुख भागों और अनेक अवान्तर भागों में विभाजन किया गया है। इन्हीं के अन्तर्गत छठा विभाग है आलाप-प्रहेलिकाओं का।

आलाप-प्रहेलिकाएं मुख्यतः दो प्रकार की होती थीं-अन्तरालापः (सुभाषित रत्न भाण्डागार एवं सुभाषित सुधारत्न भाण्डागार) अथवा अन्तर्लापिका (सुभाषित रत्नाकर) तथा बहिरालापः (सुभाषित रत्न भाण्डागार एवं सुभाषित सुधारत्न भाण्डागार)। आलाप-प्रहेलिकाएं प्राचीन भारत में, प्रचलित प्रहेलिकाओं में सर्वाधिक विख्यात थीं।[3] आलाप शब्द लप् से बना है, जो बोलने के अर्थ में प्रयुक्त होती है। इस प्रकार, आलाप का अर्थ हुआ, बोलना या पूछना। अन्तरालाप प्रायः अब उन प्रहेलिकाओं को कहा जाता था, जो अपने ही में अपने उत्तर भी समाहित

1. का॰ प्र॰, का॰ 5, सूत्र 4, पृ॰ 32
2. सा॰ द॰: दशम परि॰, पृ॰ 291
3. सुभाषित सुधारत्न भाण्डागार में 461 उल्लिखित प्रहेलिकाओं में से 171 मात्र अन्तर् या बहिर् आलाप प्रकार की हैं।

किए रहती है। पर सभी अन्तरालाप-प्रहेलिकाओं में उत्तर समाविष्ट हुए रहते हों, ऐसा नहीं है। कभी-कभी ये प्रहेलिकाएं तीन पादों में निबद्ध की जाती हैं और श्रोता से इसका चतुर्थ चरण अपेक्षित होता है, जो कि इस प्रहेलिका का उत्तर भी लिए हुए हो। साथ ही, यह चतुर्थ पाद छन्दतः भी ठीक होना चाहिए, जिससे कि श्लोक की पूर्ति हो सके। इस प्रक्रिया से अन्तरालाप प्रहेलिका की प्रकृति में किंचिदन्तर हो जाता है और ये समस्या-अन्तरालाप-प्रहेलिका बन जाती है।[1]

समस्या-अन्तरालाप-प्रहेलिका अथवा समस्या-पूर्ति, जिसे काव्य-समस्या पूरण अथवा समस्याख्यान अथवा समस्या-पूरण-विधि (यशोधर कृत कामसूत्र की टीका में) भी कहा जाता है। सम+अस्य इस विग्रह के अनुसार, इसका अर्थ हुआ, 'पूरा करना'। समस्या-पूर्ति का यह मनोविनोद प्राचीन भारत में अति प्रसिद्ध था और चौंसठ ललित कलाओं में स्थान पाता था[2]। इसी मनोविनोद के विभिन्न आयामों के सुन्दर निदर्शन हमें भोजप्रबन्ध में प्राप्त होते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि मानो श्रीबल्लाल ने समस्यापूर्ति की विविध परिकल्पनाओं को सार रूप में यहाँ प्रस्तुत किया है। भोजप्रबन्ध में, समस्या-पूर्ति का ऐसा सांग वर्णन हुआ है कि प्रसिद्ध भारतीविद्याविद् प्रो॰ लुडविग स्टर्नबक ने इस विधा के सारे उदाहरणों के लिए इसका ही आश्रय लिया है।

अब हम भोजप्रबन्ध में आगत समस्या-पूर्ति वाले अंशों का अनुशीलन करते हैं। भोजप्रबन्ध के 327 श्लोकों में से कुल 33 श्लोक इसी मनोविनोद से सम्बद्ध हैं।[3] मुख्यतः यह इस प्रकार होता था कि

1. लुडविग स्टर्नबक : -वही, पृ॰ 77
2. वही, पृ॰ 78 तथा द्विवेदी, हजारीप्रसाद : प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद, पृ॰ 186 (वात्स्यायन-सूची) 33वीं विद्या
3. भोज एवं कालि॰ (112, 142, 154, 258, 265, 292-6, 302-3, 317); भोज, बाण, महेश्वर, कालि॰ (161); भोज एवं एक ब्राह्मण (185); भोज एवं ब्राह्मण परिवार (168-171); भोज एवं व्याध-पत्नी (182); भोज, भवभूति, दण्डी, कालि॰ (320); भोज एवं भवभूति (293); भोज एवं शंकर (75); भवभूति, भोज एवं कालि॰ (304-6); भोज एवं चोर (200, 236); भोज एवं उसका प्र॰ म॰ (198); ब्रह्मराक्षस एवं कालि॰ (307); कविद्वय एवं कालि॰ (86); अश्विनौ एवं कालि॰ (322)।

वक्ता (समस्या को देने वाला) श्लोकांश (एक, दो अथवा तीन पाद) बोलता था और श्रोता (समस्या-पूर्ति करने वाले) से यह अनुरोध करता था कि वह इसे पूर्णता प्रदान करे। भोजप्रबन्ध में श्रीबल्लाल ने इसके अनेकानेक उदाहरण स्थान-स्थान पर दिए हैं। उदाहरणार्थ, वह वृत्तान्त जब राजा ने प्राकृत में एक श्लोकार्द्ध कहकर सभा में उपस्थित विद्वानों से उसकी पूर्ति के लिए कहा। महाकवि बाण के अनुरोध पर उन्हें समस्या-पूर्ति हेतु दस दिवस का समय दिया गया और कहा गया कि यदि नियतावधि में इसकी पूर्ति न की गई तो, ये विद्वान् फिर सभा में न आएं। महाकवि कालिदास के अभाव में, वे इसकी पूर्ति में असमर्थ रहे। (कालिदास उन दिनों रानी के साथ भ्रष्टाचरण के मिथ्यारोप से अभियुक्त हो, एक वारांगना विलासवती के घर में समय व्यतीत कर रहे थे)। जब वह विद्वत्समाज, समस्यापूर्ति न कर पाने के कारण, नवम दिवस की रात्रि को, अपने सामान के साथ, महल से निकल, नगर छोड़कर जाने के मार्ग पर विलासवती के घर के पास से निकला, तो महाकवि कालिदास ने वेष बदलकर, उस समस्या का समाधान कर दिया और उन लोगों का नगर-बहिर्गमन रुक गया तथा राजा ने उन्हें पुरस्कृत किया[1]।

जैसा कि ऊपर उल्लेख किया गया है, इस मनोविनोद में प्रायशः ऐसा होता था कि, श्लोक का एक भाग बोला जाता था और श्रोता से यह अपेक्षित होता था कि वह उसकी पूर्ति करे, पर यह पूर्ति अनेक प्रकार से की जा सकती थी। सामान्यतया, वक्ता, श्लोक का आरम्भ (अथवा चरण क, ख) कह देता था और श्रोता को उसी छन्द में उसकी पूर्ति (अर्थात् चरण 'ग' एवं 'घ' की रचना) करनी होती थी। वैसे, समस्या के श्रोता के लिए यह वैकल्पिक होता था कि वह प्रदत्तांश को उत्तरार्द्ध के स्थान पर रखकर, उसके पूर्वार्द्ध की रचना कर, उसे पूरा करे। इस प्रकार की गई समस्या की पूर्ति हमें भो॰ प्र॰ के श्लोक 112 में प्राप्त होती है, जहाँ राजा भोज कहते हैं कि 'मैं (मानसरोवर की

---

1. भो॰ प्र॰, श्लोक 165

भांति) कवियों के मानस को प्रणाम करता हूँ (जहाँ) प्रतिभा रूपी जल के ऊपर तैरते हैं', 'तब महाकवि कालिदास इसकी पूर्ति 'जहाँ हंसों की भांति चौदहों लोक' यह कहकर करते हैं।[1]

कभी-कभी, समस्या का वक्ता, एक पाद बोलता था और दो अथवा तीन अन्य व्यक्ति, उसके अवशिष्टांश की पूर्ति करते थे। इसका उदाहरण है, इस ग्रन्थ का 320 वां पद्य, जिसमें भवभूति ने चरण 'क' बनाया, दण्डी ने चरण 'ख' कहा और महाकवि कालिदास ने चरण 'ग' और 'घ' का निर्माण किया। इसी प्रकार, एक अन्य पद्य में, एक 'कवि' ने चरण 'क' बनाया; एक अन्य 'कवि' ने पाद 'ख' बनाया और महाकवि कालिदास ने चरण 'ग' तथा 'घ' की रचना की[2]। एक अन्य उदाहरण है, जिसमें भोजराज समस्या का प्रथम पाद कहते हैं, बाण कवि द्वितीय पाद कहते हैं; महेश्वर कवि तृतीय बनाते हैं, और महाकवि कालिदास उसका चतुर्थ चरण रचकर, उसे पूर्ति प्रदान करते हैं।[3] इस प्रकार, हम देखते हैं कि ऐसी अनेक संरचनाओं की परिकल्पना की जा सकती थी, इसे नूतन और सजीव बनाने के लिए।

समस्या-पूर्ति, उस समय पर्याप्त कठिन तथा दुर्गम हो जाती थी, जब समस्या का वक्ता केवल कुछ निरर्थक ध्वनियों का उच्चारण, समस्या के रूप में करता था। ऐसा प्रसंग हमें मिलता है, भोजप्रबन्ध के एक पद्य में, जहाँ भोजराज समस्या-पूरणार्थ एक चरण कहते हैं, जो केवल अघोष एवं सघोष 'ट' अक्षर से बना है। महाकवि कालिदास, अपनी प्रतिभा से समस्या-प्रश्न को चतुर्थ चरण बनाकर, शेष तीन चरणों में उसका समाधान प्रस्तुत करते हैं, जिसमें कि उन्होंने समस्या प्रश्न में प्रदत्त ध्वनि की तुलना, एक गिरते हुए स्वर्ण-पात्र से निकलती हुई ध्वनि से की है[4]। इसी प्रकार का एक अन्य उदाहरण मिलता है, जहाँ भोजराज 'गुलुग्गुलु...........' इस प्रकार कहते हैं और महाकवि कालिदास,

1. भो॰ प्र॰, श्लोक 112
2. वही, श्लोक 78,
3. वही, श्लोक 161
4. वही, श्लोक 317

जामुनों के पानी में गिरने की ध्वनि के रूप में इसका चित्रण कर, समस्या-पूर्ति करते हैं।[1]

सामान्यतः, समस्या-प्रश्नों को पूर्ण पाद के रूप में होना चाहिए, पर अपवादस्वरूप, ये कहीं-कहीं केवल कुछ अक्षरों में भी निबद्ध किए जाते थे। इसका उदाहरण है, ब्रह्म-राक्षस वाला वृतान्त।[2] भोजराज के एक नव निर्मित प्रासाद में, एक ब्रह्म-राक्षस अपना निवास बना लेता है और उसमें प्रवेश करने वालों से वह प्रश्न पूछता है, जिनके उत्तर न मिलने पर वह श्रोता को मार देता है। अनेकानेक प्रयत्नों से भी वह वहाँ से निकाला न जा सका। तब महाकवि कालिदास वहाँ गए। उनसे भी ब्रह्मराक्षस ने पाणिनि के चार विभिन्न सूत्र (8.1.1; 1.2.65, 4.1.93, 1. 2.66) जो चार दीर्घ कठिन मात्राओं से निर्मित थे, समस्या-रूप में पूछे। महाकवि ने बिना किसी विशेष कठिनाई के, प्रत्येक पाद की पूर्ति कर दी, क्योंकि उनसे केवल यही अपेक्षित था कि उनके उत्तर में, प्रत्येक पाद की प्रथम चार मात्राएँ दीर्घ हों और चतुर्थ मात्रा के उपरान्त यति हो। ऐसा केवल एक ही छन्द (मन्दाक्रान्ता) सुप्रसिद्ध है, जिसमें उपरोक्त लक्षण विद्यमान हैं। एतदर्थ, महाकवि ने इस समस्या के समाधानार्थ मन्दाक्राता का ही उपयोग किया और उस ब्रह्मराक्षस से, उस भवन को मुक्त कराया।

परन्तु कभी-कभी, जब समस्या-प्रश्न किसी ज्ञात छन्द में निबद्ध नहीं होता था, तब समस्या का श्रोता दुविधाग्रस्त हो जाता था। इसके उदाहरणार्थ श्लोक देखते हैं, जिसमें समस्या-प्रश्न है-

'अप्रतिपत्ति मूढमनसा द्वित्रा स्थिता नाडिका।'[3]

अर्थात्, यह एक 17 मात्रिक छन्द है जिसमें कि भ, र, न, म, य, ल और ग हैं। महाकवि कालिदास ने श्लोकारम्भ में तीन मात्रिकों की सहायता से इसे हल किया। उन्होंने इसमें 'देवेन' पद जोड़ दिया, जिससे इसका अर्थ भी परिवर्तित नहीं हुआ और यह 17 के स्थान पर 19 मात्रिक हो गया और यह हमारा सुपरिचित शार्दूलविक्रीडित छन्द बन गया।

1. वही, श्लोक 295
2. वही, श्लोक 307
3. वही, श्लोक 302

तर्कपूर्ण, सुमतियुक्त तथा साथ ही छन्दतः भी सही, ऐसी समस्या-पूर्ति करना वस्तुतः अत्यन्त कठिन एवं बुद्धिमत्तापूर्ण कार्य था। इसका सुन्दर निदर्शन है, नर्मदा-प्रस्तर खण्ड समस्या[1]। एकदा धीवरों को नर्मदा के बृहत्सरोवर में एक प्रस्तर खण्ड मिलता है, जिस पर किंचिध्धूमिल शब्दों में कुछ अंकित है। यह भोजराज के समक्ष लाया जाता है, जो उन शब्दों को पढ़कर, भवभूति से उस श्लोक को पूरा करने के लिए कहते हैं। भवभूति समस्या-पूर्ति करते हैं (श्लोक 304) परन्तु, उसमें राजा को ध्वनि-दोष दिखता है। तब स्वयं राजा उसके अर्द्धांश को दूसरी तरह से पढ़कर (श्लोक 305); महाकवि कालिदास से उसकी पूर्ति के लिए कहते हैं। कालिदास सन्तोषप्रद रूप से उसकी पूर्ति कर देते हैं (श्लोक 306) और राजा उसे सुन आनन्दित होते हैं।

और कभी-कभी, समस्या-पूर्ति वाले श्लोक न केवल छन्दतः और अन्य सब प्रकार से सही होते थे, अपितु, श्लोक के सौन्दर्य को बढ़ाने के लिए, उनमें गेयात्मकता का भी समावेश कर दिया जाता था। प्रो॰ लुडविग स्टर्नबक् के अनुसार[2],यह संस्कृत साहित्य एवं काव्यशास्त्र में एक अत्यन्त विरलतया पाई जाने वाली घटना है। पर भोजप्रबन्ध में हमें यह भी श्लोक 161 में मिल जाती है। इसके लिए श्रीबल्लाल सराहना के पात्र हैं।

जिन श्लोकों की रचना को, उस समस्या के श्रोता द्वारा पूर्णता प्रदान की जाती थी; वे न केवल बुद्धिमत्तापूर्ण तथा तर्कयुक्त ही हों, अपितु काव्यशास्त्रीय दृष्टिकोण से भी वे सही हों; ऐसी अपेक्षा श्रोता से की जाती थी। उत्तम समस्या-पद्य, अपनी पूर्ति के उपरान्त, सुन्दर सुभाषितों के रूप में उभरकर आएं और उन्हें देखने से यह प्रतीति न हो कि ये एकाधिक कवि द्वारा रचे गए हैं; ऐसी चेष्टा में कवि प्रयासरत रहते थे। बहुधा इनकी रचना में प्राप्त अभिन्नता के कारण, सुभाषित संग्रहों में इन सुन्दर श्लोकों को किसी अज्ञात कवि अथवा किसी एक ही कवि द्वारा रचित बताया जाता है। इस प्रकार की घटना भी भोज प्रबन्ध के साथ हुई है। उदाहरणार्थ, भोजप्रबन्ध का श्लोक 112, जिसका

1. वही, श्लोक 304-306
2. स्टर्न. लुडविगः इण्डियन रिडल्स : ए फॉरगॉटन चैप्टर. पृ॰ 79; 97.5.

पूर्वार्द्ध कालिदास एवं उत्तरार्द्ध भोजराज द्वारा रचित दिखाया गया है; अन्यत्र राजशेखर के श्लोक के रूप में उल्लिखित हैं। अथवा, भोजप्रबन्ध का 161वां पद्य, जो कि भोजप्रबन्ध में, भोज, बाण, महेश्वर एवं कालिदास द्वारा रचित बताया गया है, अन्यत्र अज्ञात कवि से सम्बद्ध बताया गया है। यही दशा भोजप्रबन्ध के श्लोक 86, 265 और 302 की है।

भोज-प्रबन्ध में प्रकृति-चित्रण

भारतीय चिन्तन में मानव, प्रकृति-जगत् में जन्म लेता है, उसका जीवन प्रकृति-जीवन का ही अंग है। उसकी सौन्दर्य परिकल्पना प्रकृति से उद्भूत है। दोनों का परिचालन एक ही प्रकार के नियमों से होता है। और इसीलिए मानवीय कल्पना के विकास में प्रकृति का सहयोग रहा है।

कला और काव्य का आधार कल्पना है, इस कारण प्रकृति से इनका सहज सम्बन्ध सम्भव है। प्रकृति के व्यापक विस्तार से जो सौन्दर्य, मानव अपनी कल्पना में ग्रहण करता है, वह उसके काव्य में अपनी अभिव्यक्ति ढूंढ़ता है। इसी कारण, भारतीय कवि मानव और प्रकृति के इस आन्तरिक एवं घनिष्ठ सम्बन्ध को कभी विस्मृत नहीं करता। वह अपने बिम्ब-विधान में इस आन्तरिकता को, मानव और प्रकृति दोनों के वर्णनों में सुरक्षित रखता है। कवि मानवीय अंग-प्रत्यंग, परिस्थितियों एवं भावों के सौन्दर्य-विधान के लिए, प्रकृति के उपकरणों से बिम्ब-योजना करता है। इसी प्रकार, प्रकृति में जीवन की व्यंजना के लिए मानवीय प्रतीकों तथा उपमानों की योजना की गई है। कवि की दृष्टि में, मानवीय तथा प्राकृतिक संसारों में समान जीवनी-शक्ति प्रवाहित हो रही है। इसीलिए, कवि इस साहचर्य एवं तादात्म्य की भावना को पशु, पक्षी, लता-पादपों में भी परिव्याप्त पाता है।

उपर्युक्त आधार पर ही संस्कृत काव्यों में मानवीय भावना और प्रकृति के मध्य व्यापक साहचर्य की अनुभूति हमें प्राप्त होती है। भारतीय चिन्तन में यह भावना इतने सूक्ष्म स्तर पर व्याप्त है कि हमारे

लोक-गीतों में भी प्रकृति मानव-सहचरी के रूप में प्रस्तुत की गई है।[1]

संस्कृत काव्यों में प्रकृति साधारणतः दो प्रकार से चित्रित की जाती है—आलम्बन अथवा प्रधान रूप में तथा उद्दीपन अर्थात् गौण अथवा सहायिका के रूप में।

भोजप्रबन्ध में श्रीबल्लाल कवि ने संस्कृत काव्य-परम्परा को अक्षुण्ण रखते हुए, प्रकृति-चित्रण में पूर्ण सजगता का प्रदर्शन किया है। इसीलिए हम देखते हैं कि, एक कथा-संग्रह रूपी फैण्टेसी होने के बाद भी, भोजप्रबन्ध में प्रकृति को पूरा-पूरा आदर दिया गया है। यहाँ पर आलम्बन अथवा प्रधान रूप में प्रकृति का चित्रण विरलतया ही प्राप्त होता है, जो कि स्वाभाविक ही है, क्योंकि इस प्रकार के वर्णनों से कथा-प्रवाह में विघ्न पड़ता है। इसके बाद भी, श्रीबल्लाल ने प्रकृति के उद्दीपन अर्थात् गौण-वर्णन से इसकी क्षतिपूर्ति कर दी है। भोजप्रबन्ध में विद्यमान, प्रकृति-चित्रण सम्बन्धी लगभग 62 पद्य इस स्थापना के प्रबल प्रमाण है।

संस्कृत काव्य-परम्परा में, आदिकवि वाल्मीकि के काव्य में भी हमें प्रकृति-चित्रण के सजग प्रयोग मिलते हैं।[2] महाकवि कालिदास के समय तक ये और अधिक परिष्कृत हो गए।[3] और इनके बाद क्रमशः प्रकृति-चित्रण अधिकाधिक चमत्कारपूर्ण और क्लिष्ट होते चले गए। शनैः-शनैः, इनकी स्वाभाविक सहजता एवं नैसर्गिकता का लोप हो गया और यह प्रकृति दुरूह अलंकारों के बोझ तले दबा दी गई।

श्रीबल्लाल ने जो भी प्रकृति-सम्बन्धी चित्र प्रस्तुत किए हैं, वे अत्यन्त सहज हैं और उनके ग्रंथ के उद्देश्य के अनुगामी भी[4]। इनके द्वारा उत्कीर्ण प्रकृति-चित्रों की एक अन्य विशेषता है— इनकी कल्पनाशीलता का वैविध्य एवं व्यापकता। जहाँ एक ओर इन्होंने परम्परागत प्रभात-वर्णन,

1. रघुवंश : प्रकृति और काव्य, पृ॰ 6, भूमिका।
2. पश्येममचलं भद्रे नानाद्विजगणायुतम्।
   शिखरैः खमिवोद्विद्धैर्धातुमद्भिर्विभूषितम्।। वा॰ रा॰, 2.94.4 और 2.50.17 इत्यादि।
3. रघुवंश; अभिज्ञान शाकुन्तलम् नाटक एवं मेघदूत विशेष द्रष्टव्य।
4. ग्रंथ-उद्देश्य के स्पष्टीकरण हेतु शिल्प-विवेचन सम्बंधी अध्याय द्रष्टव्य है।

संध्या-वर्णन, चन्द्र-वर्णन तथा ऋतुओं आदि का वर्णन किया है, वहीं दूसरी ओर अत्यन्त साधारण प्राकृतिक तत्त्वों यथा कलम, जम्बु-फल, पेय, तथा इक्षुदण्ड से भी युक्तिपूर्वक अपने वर्णनों को सज्जित किया है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि कवि श्रीबल्लाल की प्रकृति सीमित अथवा संकुचित नहीं है। उन्होंने प्रकृति के प्रायः हर पक्ष का उद्‌घाटन करने का प्रयास किया है। श्रीबल्लाल की प्रकृति की परिकल्पना को भली-भाँति समझने हेतु, संस्कृत-काव्य के प्रकृति-चित्रण में अन्तर्निहित भारतीय सौन्दर्य-बोध पर विचार करना भी अपेक्षित है। भारतीय दृष्टि में, सदा प्रकृति के यथार्थ का अनुकरण करने के स्थान पर, कलाकार और कवि ने अपने सर्जनात्मक योग से प्रकृति की रचना की है। और इसी प्रयत्न में उसने प्रकृति को अपने भाव से सम्पन्न कर, उसे जीवन के सत्य से पूर्ण प्लावित कर दिया है। साधारण दृष्टि से इस प्रकार के प्रकृत्यंकन भले ही, पर्यवेक्षण तथा विवरण के आधार पर अयथार्थ, अतिरंजित एवं मात्र काल्पनिक प्रतीत हों, पर इस भावात्मक उद्‌भावना ने प्रकृति को ऐसी जीवनी शक्ति से व्यंजित किया है, जो उसके सभी रूपों में अन्तर्व्याप्त हो जाती है और इसके साथ ही, प्रकृति के आकार-प्रकार तथा स्थिति-परिस्थितियों आदि का यथार्थ महत्त्वहीन हो जाता है।

भारतीय काव्य-परंपरा में, प्रकृति और मानव में प्रवाहित अन्तर्वर्ती जीवन का उल्लेख अवश्य किया गया है, परन्तु, कलात्मक भाव-भूमि पर कवि अपना सौन्दर्य-बोध सीधे प्रकृति या जीवन से ग्रहण नहीं करता। वह तो ध्यान और समाधि के माध्यम से अपने भावों और संवेगों से संवेदित और स्फुरित प्रकृति के अनुभव को अभिव्यक्ति देता है और यहीं से वह सौन्दर्य का अपना आदर्श भी ग्रहण करता है। इस आदर्श-भावना की अभिव्यक्ति के लिए उसे अपनी भाषा, अपना बिम्ब-विधान, अपनी अप्रस्तुत-योजना, अपने आकार-प्रकार एवं रंग-रूप की सृष्टि करनी होती है। इस स्थिति में, कवि द्वारा प्रकृति की जो परिकल्पना की जाती है, वह मुख्यतः सौन्दर्य-सृष्टि के लिए होती है; देश-काल को प्रत्यक्ष करने के उद्देश्य से नहीं। एतदर्थ कवि के नियम

वस्तुपरक प्रकृति-जगत् से निरपेक्ष रहते हैं। कवि प्रकृति का अंकन उसकी आभ्यन्तर संरचना तथा महत्त्व के आधार पर करता है, उसके यथार्थ रूपाकार को प्रस्तुत करने के भाव से नहीं। इसीलिए संस्कृत काव्यों में विद्यमान प्रकृति-चित्र उदात्त कल्पनाओं तथा नानाविध विषयों के सजीव चित्रण के लिए विश्व-विख्यात हैं।

काव्यात्मक सहजता के पथ का अनुगामी होने पर भी, भोजप्रबन्ध में विद्यमान प्रकृति-चित्र सार्थक एवं सुन्दर हैं। उदाहरणार्थ-संध्या-वर्णनः-

'व्यसनिन इव विद्या क्षीयते पङ्कजश्री-
र्गुणिन इव विदेशे दैन्यमायान्ति भृङ्गाः।
कुनृपतिरिव लोकं पीडयत्यन्धकारो
धनमिव कृपणस्य व्यर्थतामेति चक्षुः॥[1]

प्रस्तुत पद्य का चित्र कितना सार्थक है। श्रीबल्लाल द्वारा प्रस्तुत उपमानों से तत्कालीन सामाजिक स्थिति की झलक भी हमें मिल जाती है कि विषयी व्यक्ति की विद्या के सदृश ही कमलों की शोभा का ह्रास होने लगा। जिस प्रकार परदेश में पण्डित दीनता को प्राप्त करते हैं, वैसे ही भ्रमर-कुल दीन हो गया। अन्धेरा दुष्ट राजा के समान जगत् को त्रास देने लगा। और आँखें कृपण के धन के समान व्यर्थता को प्राप्त करने लगीं। कैसा सजीव चित्र है।

इसी प्रकार, कवि श्रीबल्लाल द्वारा महाकवि कालिदास के मुख से निःसृत चन्द्र-वर्णन का यह श्लोक भी लोकोत्तर चमत्कार से परिपूर्ण है-

'लक्ष्मीक्रीडातडागो रतिधवलगृहं दर्पणो दिग्वधूनां
पुष्पं श्यामालतायास्त्रिभुवनजयिनो मन्मथस्यातपत्रम्।
पिण्डीभूतं हरस्य स्मितममरधुनीपुण्डरीकं मृगाङ्को
ज्योत्स्नापीयूषवापी जयति सितवृषस्तारकागोकुलस्य॥[2]

अर्थात् चन्द्रमा लक्ष्मी की क्रीड़ा का सरोवर है, रति का धवलगृह है, दिशारूपी वधुओं का दर्पण है, श्यामलता का पुष्प है, तीनों

1. भो॰ प्र॰ : श्लोक 77
2. भो॰ प्र॰ : श्लोक 259

भुवनों को जीतने वाले कामदेव का छत्र है, भगवान् शंकर का पिण्डीभूत हास्य है, स्वर्ग गंगा का कमल है, चंद्रिका के लिए अमृत की वापी है तथा तारका रूपी गो-कुल का श्वेत वृषभ है। इस वर्णन से शुभ्र एवं निष्कलंक निशानाथ का चित्र स्वयमेव नेत्रों के समक्ष आ जाता है।

ऐसा ही एक अन्य चित्र उत्कीर्ण किया गया है, प्रातःकाल का, जिसे पढ़कर ऐसी प्रतीति होती है, मानो सच ही सूर्य शनैः शनैः उदित हो रहा है और चन्द्रमण्डल अस्ताचल की ओर अग्रसर हो रहा है।[1]

कवि श्रीबल्लाल ने ऋतुओं का भी वर्णन किया है। ऋतुओं में शीतर्तु का भारतवर्ष में उपनिषद्-काल से ही विशेष स्थान माना गया है। जीवेम शरदः शतम् इत्यादि। और वस्तुतः निर्धन लोगों के लिए शीत अभिशाप होती है। शीत से सन्तप्त व्यक्ति के नेत्रों से निद्रा, त्यागी हुई स्त्री के समान दूरंगत हो जाती है[2]। ऐसे व्यक्ति रात्रि में घुटनों के मध्य सिर रखकर, दिन में सूर्य से तथा सन्ध्या को अग्नि से शीत के निराकरण की चेष्टा करते हैं[3]।

श्रीबल्लाल द्वारा युक्तिपूर्वक ग्रीष्म वर्णन का भी समावेश इस ग्रन्थ में किया गया है। ग्रीष्म में हवा चलने की बात से भी शून्य समय को, उत्तरोत्तर व्यतीत होते देख, विलासी पुरुषों ने श्रृंगार की अन्य चेष्टाओं से विमुख होकर, केवल कामिनियों के दर्शन मात्र से ही अपने को सन्तुष्ट किया।[4] ऐसे में, नागिन ने अपने भूखे शिशु को मुख के पवन से ही फूत्कारी दी।[5] इनका वर्षा-वर्णन भी द्रष्टव्य है जिसमें वर्षाकाल मेघ को महती महत्त्व दिया गया है। कवि श्रीबल्लाल ने मेघ को अपने अनेक वक्तव्यों का आधार बनाया है। उनके ग्रन्थ में छह-सात बार[6] मेघ के व्याज से स्तुति की गई है। इसी प्रकार, चन्द्रमा भी उनका प्रिय उपमान प्रतीत होता है क्योंकि समूचे भोजप्रबन्ध में प्रायः छह बार ही

1 वही, श्लोक 320
2. वही, श्लोक 232
3. वही, श्लोक 233
4. वही, श्लोक 294
5. वही, श्लोक 293
6. वही, श्लोक 197, 201, 204, 206, 207, 210, 214 तथा 280 इत्यादि।

चन्द्रमा का भी उल्लेख है।[1]

इनके अतिरिक्त, भोजप्रबन्ध में चन्दन-वृक्ष (श्लोक 220), वन (श्लोक 222), कामदेव (श्लोक 171), मृगया (श्लोक 217), सूर्य (श्लोक 169), कोकिल (श्लोक 286-7), काक (श्लोक 268-9), जल (श्लोक 228) आदि के भी सुन्दर एवं सार्थक चित्र उत्कीर्ण किए गए हैं।

साथ ही, भोजप्रबन्ध में प्रकृति के कुछ अद्भुत एवं अपारम्परिक अंकन भी प्राप्त होते हैं जो इसके अद्भुत एवं विस्मित कर देने वाले वातावरण के सर्वथा अनुकूल हैं। उदाहरणार्थ, यह चित्र जिसमें कि लुब्धकवधू राजा भोज को सम्बोधित करके कह रही है–

'गायन्ति त्वदरिप्रियाश्रुतटिनीतीरेषु सिद्धाङ्गनाः।
गीतान्धा न तृणं चरन्ति हरिणास्तेनामिषं दुर्बलम्।।[2]

अर्थात् हे नरेन्द्र, आपके विपक्षियों की स्त्रियों के अश्रुओं की नदी के तट पर सुरांगनाएं गीत गाती हैं, जिस गीत के श्रवण से मुग्ध होकर हिरण घास चरना भूल जाते हैं और इसी से यह माँस सूखा हुआ हो गया है। यह एक सर्वथा नूतन पक्ष है प्रकृति का।

इसी प्रकार का एक दृश्य है, श्लोक सं॰ 201 में जहाँ मेंढक मृतकों के समान कोटर में पड़े थे, कछुए गड्ढे में धंसे हुए थे, मछलियां कीचड़ में मूर्च्छितप्राय पड़ी थीं, उस सूखे स्थान पर आकर, अकाल में मेघ ने ऐसी वृष्टि की कि वहाँ पर वन के हाथी आकर डुबकियां लगाकर जल पीने लगे। वस्तुतः, अत्यन्त सजीव एवं अद्भुत वर्णन है।

श्रीबल्लाल ने जल का भी एक अत्यन्त सुन्दर चित्र प्रस्तुत किया है-

'स्वच्छं सज्जनचित्तवल्लघुतरं दीनार्तिवच्छीतलं
पुत्रालिङ्गनवत्तथैव मधुरं तद्बाल्य संजल्पवत्।

---

1. वही, श्लोक 138, 154, 236, 255, 258, 259 इत्यादि।
2. भो॰ प्र॰, श्लोक 182

एलोशीरलवङ्गचन्दनलसत्कर्पूरकस्तूरिका-
जातीपाटलिकेतकैः सुरभितं पानीयमानीयताम्॥[1]

अर्थात् साधुओं के अन्तःकरण के सदृश स्वच्छ, दीनों की व्यथा के सदृश लघु, पुत्रालिंगनवत् शीतल, बालकों की तोतली बोली के समान मधुर, इलायची, लौंग, चन्दर, कपूर एवं कस्तूरी तथा मालती, पाटल एवं केतकी की सुरभि से सुगंधित सुशोभित जल लाइये।

इन सब प्रकृति-चित्रणों को श्रीबल्लाल कवि की वर्णन-क्षमता के साथ-साथ, उनकी विविध विषयों को चुनने की सामर्थ्य का ज्ञान भी सद्यः ही हो जाता है।

भोज-प्रबन्ध में स्तुति-सम्बन्धी पद्य

जैसा कि इंगित किया जा चुका है कि भोज-प्रबन्ध एक कथासंग्रहात्मक फैण्टेसी है और यहाँ वर्णित पात्र किसी न किसी वस्तु के प्रतीक हैं। इनमें से प्रमुख हैं कालिदास एवं महाराज भोज। जहाँ एक ओर महाकवि कालिदास संस्कृत साहित्य के उत्कर्ष काल के आदर्श मूल्यों के प्रतीक हैं, वहीं दूसरी ओर महाराज भोज उस नृपवर्ग को प्रतिनिधित्व करते हैं, जिसने सदा कवियों को आश्रय प्रदान कर संस्कृत वाङ्मय की महती सेवा की।[2]

तो भोजराज को एक सुयोग्य आश्रयदाता के रूप में दर्शाने के लिए, जिस पृष्ठभूमि की आवश्यकता थी, वह श्रीबल्लाल ने कथामुख में तैयार की। बचपन से ही भोज को प्रतापी एवं लोकप्रिय दिखलाया गया है। साथ ही, श्रीबल्लाल ने अत्यन्त पाटव से, यत्र-तत्र भोजराज के विभिन्न गुणों पर प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप से प्रकाश डाला है। इसके लिए, उन्होंने स्थान-स्थान पर स्तुतिपरक पद्यों का निबन्धन भोजप्रबन्ध में किया है। सम्पूर्ण भोजप्रबन्ध में, प्रायः 84[3] स्तुतिपरक पद्य हमें प्राप्त होते

1. वही, श्लोक 229
2. विस्तार हेतु अध्याय 3 अवलोकनीय है।
3. प्रत्यक्ष-स्तुति-द्रष्टव्य श्लोक 6, 66, 76, 8, 83, 84, 85, 92, 123, 127, 141, 162, 172, 173, 181, 190, 194, 195, 196, 202, 205, 209, 211, 212, 213,

क्रमशः

हैं जिनमें से 42 में भोजराज की, नामोल्लेख सहित (प्रत्यक्ष) तथा 42 ही में व्याज से (अप्रत्यक्ष) स्तुति की गई है, जिससे उनके दाक्षिण्य, वीरता, महानता, विद्वत्प्रियता आदि सद्गुण उद्घाटित होते हैं। कपितय विशिष्ट उदाहरण द्रष्टव्य हैं–

दानशीलता– **देव त्वद्दानपाथोधौ दारिद्र्यस्य निमज्जतः।**
न कोऽपि हि करालम्बं दत्ते मत्तेभदायकः॥
(श्लोक 166)

अर्थात्, हे देव (भोजराज), हे मत्त हाथियों के दाता! आपके दानरूपी सागर में डूबते हुए दारिद्र्य की कोई भी सहायता नहीं कर रहा है। अर्थात् भोज के द्वारा दिए गए दान रूपी सागर में दरिद्रता डूब चुकी है और उसे बचाने वाला भी कोई नहीं।

वीरता– **कङ्कणं नयनद्वन्द्वे तिलकं करपल्लवे।**
अहो भूषणवैचित्र्यं भोजप्रत्यर्थियोषिताम्॥
(श्लोक 123)

अर्थात् ओह! भोज के शत्रुओं की स्त्रियों के प्रसाधन की कैसी विचित्रता है। दोनों आँखों में कंङ्कण हैं और नूतन पल्लव के समान कर में तिलक (माथे की बिन्दी) है। शोक में माथा पीटते हुए कङ्कण नेत्रों के सामने है और बिन्दी हाथ से पुँछ गई है।

विद्वत्प्रियता– **भोजः कलाविद्रुदो वा कालिदासस्य माननात्।**
विबुधेषु कृतो राजा येन दोषाकरोऽप्यसौ॥
(श्लोक 141)

अर्थात् राजा भोज को कलाविद् कहें अथवा शिव, क्योंकि

216, 217, 218, 219, 225, 227, 228, 237, 256, 266, 267, 272, 275, 289, 324, 325, 326, 327

अप्रत्यक्ष-स्तुति-द्रष्टव्य श्लोक–67, 69, 72, 73, 113, 134, 165, 166, 176, 182, 183, 185, 186, 187, 197, 206, 208, 210, 241, 220, 221, 222, 226, 234, 235, 236, 238, 239, 241, 242, 250, 264, 288, 300, 308, 310, 311, 312, 313, 314, 316

इन्होंने, दोष के आलय रूपी कालिदास को चन्द्रमा के समान विद्वानों (देवों) का राजा बना दिया है। इस श्लोक से राजा भोज की विद्वानों के प्रति अतिशय प्रीति प्रकट होती है।

कीर्ति-

महाराज श्रीमञ्जगति यशसा ते धवलिते
पयः पारावारं परमपुरुषोऽयं मृगयते।
कपर्दी कैलासं करिवरमभौमं कुलिश-
भृत्कलानाथं राहुः कमलभवनो हंसमधुना॥

नीरक्षीरे गृहीत्वा निखिलखगपतिर्याति नालीकजन्मा।
चक्रं धृत्वा तु सर्वानटति जलनिधींश्चक्रपाणिर्मुकुन्दः।
सर्वानुत्तुङ्गशैलान् दहति पशुपतिर्भालनेत्रेण पश्यन्।
व्याप्ता त्वत्कीर्तिकान्ता त्रिजगति नृपते भोजराज क्षितीन्द्र॥
(श्लोक 82,83)

अर्थात् हे महाराज! आपकी कीर्ति से जंगल धवलित हो गया है, अतः परमपुरुष विष्णु क्षीरसमुद्र को, शिव कैलाश को, इन्द्र ऐरावत को, राहु चन्द्र को तथा ब्रह्मा हंस को खोज रहे हैं। अपि च, हे पृथ्वीपति भोज! आपकी कीर्तिरूपी कान्ता तीनों लोकों में ऐसी परिव्याप्त हो गई है कि ब्रह्मा जलमिश्रित दुग्ध लेकर निखिल पक्षिपंक्ति के पास जा रहे हैं, चक्रपाणि मुकुन्द चक्र धारण करके समुद्र को खोज रहे हैं और भगवान् रुद्र अपने कैलाश को खोजने के लिए सम्पूर्ण ऊंचे-ऊंचे पर्वतों को अपने भाल स्थित तृतीय नेत्र से जला रहे हैं।

यह वर्णन किंचित् अत्युक्तिपूर्ण अवश्य है, पर काव्य तो कल्पना-प्राचुर्य से ही समृद्धि प्राप्त करता है।

महिमा-

नो चिन्तामणिभिर्न कल्पतरुभिर्नो कामधेन्वादिभि-
र्नो देवैश्च परोपकारनिरतैः स्थूलैर्न सूक्ष्मैरपि।
अम्भोदेह निरन्तरं जलभरैस्तामुर्वरां सिञ्चता
धौरेयेण धुरं त्वयाद्य वहता मन्ये जगज्जीवति॥
(श्लोक 197)

अर्थात् हे मेघ! आपके द्वारा सींची जाने वाली पृथिवी से ही संसार के जीवों को जीवन मिलता है, अतः चिन्तामणि, कल्पवृक्ष, कामधेनु तथा देवगण इत्यादि, परोपकारी स्थूल एवं सूक्ष्म वस्तुएं आपके आगे कुछ भी नहीं। यहाँ मेघ के व्याज से भोजराज की महिमा का वर्णन किया गया है।

इस प्रकार, महाराज भोज के अनेकानेक राजोचित गुणों का जगह-जगह प्रकाशन किया गया है। यदि सार-संक्षेप में कहें तो महाराज भोज के प्रायः सभी गुणों का वर्णन श्रीबल्लाल ने बड़ी कुशलता से इस एक ही श्लोक में निबद्ध किया है-

कविषु वादिषु भोगिषु देहिषु द्रविणवत्सु सतामुपकारिषु।
धनिषु धन्विषु धर्मधनेष्वपि क्षितितले नहि भोजसमो नृपः॥
(श्लोक 181)

अर्थात् कवियों में, वक्ताओं में, भोक्ताओं में, देहधारियों में, साधुओं का उपकार करने वालों में, धनिकों में, धनुर्धारियों में, धार्मिकों में तथा इस समस्त भूतल में, महाराज भोज के सदृश दूसरा कोई नहीं है अर्थात् उक्त गुणों में महाराज भोज अद्वितीय हैं।

साथ ही, श्रीबल्लाल ने, ऐसे योग्य आश्रय के अभाव का एक चित्र भी प्रस्तुत किया है। इस श्लोक में उन्होंने यह बताया है कि भोजराज जैसे आदर्श आश्रय-स्थल के अभाव में कवियों की क्या स्थिति होगी?

अद्य धारा निराधारा निरालम्बा सरस्वती।
पण्डिताः खण्डिताः सर्वे भोजराजे दिवं गते॥
(श्लोक 326)

अब (आज) महाराज भोज के दिवंगत होने पर, धारा नगरी (जो विद्वानों की समस्त विद्वता की गतिविधियों से ओत-प्रोत थी) तथा सरस्वती आधार रहित हो गई तथा समस्त पण्डित-मण्डल खण्डित हो गया।

अतः, वास्तव में, भोज एक आदर्श नृपवर्ग के प्रतीक रूप में यहाँ प्रस्तुत किए गए हैं जिनके होने से धारा नगरी और सरस्वती

आधारमयी और पंडितवर्ग सम्मान को प्राप्त करते हैं। (श्लोक 327)

भोजप्रबन्ध : गद्य

संस्कृत वाङ्मय में गद्य की प्राचीनता वेदों तक पहुँच जाती है। हमारे साहित्य में पद्य की अपेक्षा गद्य को अधिक सम्मान दिया गया है–'गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति।' यह उद्‌घोषणा सम्भवतः इसलिए की गई कि लेखन–सामग्री के अभाव में, हमारा प्रायः समस्त साहित्य पद्यबद्ध था क्योंकि यह तो सर्वविदित तथ्य है कि पद्य का स्मरण अपेक्षाकृत सरलता से हो जाता है। वस्तुतः, पद्यबन्ध नाना प्रकार के नियन्त्रणों से जकड़ा हुआ रहता है। कहीं छन्द, कहीं मात्रा, कहीं यति आदि मिलकर गति को अवरुद्ध कर देते हैं। इसके विपरीत, गद्य में, कवि को अपनी अभिव्यक्ति के लिए पूरा अवसर मिलता है। पर, साथ ही, किसी नियन्त्रण के अभाव में यदि गद्य कवि की रचना में कोई साहित्यिक त्रुटि परिलक्षित होती है, तो उसका उत्तरदायी वह स्वयं होता है, उसके द्वारा चयन किया गया माध्यम नहीं। इसीलिए आलोचकों ने गद्य को कवि–प्रतिभा का निकष कहा है।[1]

गद्य का विकास

सर्वप्रथम, गद्य–दर्शन हमें कृष्ण–यजुर्वेद में होता है। तत्पश्चात्, ब्राह्मणग्रन्थों, उपनिषदों, निरुक्त, महाभारत एवं महाभाष्य–प्रभृति ग्रन्थों से संस्कृत भाषा के गद्य की परम्परा की समृद्धि हुई।[2] आगे चलकर, टीकाओं, व्याख्याओं, कथा–काव्यों, आख्यायिका ग्रन्थों और चम्पू–नाटक आदि में गद्य भाषा का प्रौढ़ रूप हमारे समक्ष आता है।

ऐतिहासिक गवेषणाओं से हमें प्रतीत होता है कि भारतीय साहित्य के प्राचीनतम खण्ड वैदिक साहित्य में, गाथाओं का अस्तित्व बड़ी प्रभावोत्पादक रीति से स्वीकार किया गया है।[3] ऋग्वेद में 'नाराशंसी'

1. उपा॰ बल॰–सं॰ सा॰ का इति॰, अष्टम परि. पृ॰ 377
2. गैरोला, वा॰–सं॰ सा॰ का सां॰ इति॰, पृ॰ 807
3. ब्राह्मण–ग्रन्थों के अर्थवाद के एक आवश्यक अंग के रूप में, वैदिक वाङ्मय के क्षेत्र में आख्यान, इतिहास एवं पुराणों का स्पष्टोल्लेख है, जो धार्मिक संस्कारों या यज्ञादिक के अवसरों पर सुनाए जाते थे।

गाथाओं का उल्लेख दान-स्तुति के रूप में हुआ। इनके रचयिता, वक्ता एवं प्रवक्ता तत्कालीन संत (कुशीलव) थे। यद्यपि ये आज हमें समुपलब्ध नहीं, पर पुराने उपलब्ध ग्रंथ इस संबंध में पर्याप्त विवरण प्रदान करते हैं।[1]

लौकिक संस्कृत वाङ्मय में, गद्यात्मक कथाओं का अभ्युदय विक्रम से लगभग चार सौ वर्ष पूर्व हुआ था। कात्यायन ने 4.2.60 सूत्र के अपने वार्तिक में, आख्यान एवं आख्यायिका का उल्लेख अलग-अलग किया है। महामुनि पतंजलि ने भी आख्यान के उदाहरण में (यवक्रीत, प्रियंगु तथा ययाति का) तथा आख्यायिका के उदाहरण में (वासवदत्ता, भैमरथी तथा सुमनोत्तरा का) उल्लेख किया है। ये सम्प्रति अनुपलब्ध हैं।[2]

गद्य-काव्य के साहित्यिक दृष्टि से दो भेद होते हैं-कथा और आख्यायिका। इनमें से कथा सरस वस्तु (इतिवृत्त) हुआ करती है, उसमें कहीं-कहीं आर्या, और कहीं-कहीं वक्त्र तथा अपवक्त्र छन्दों का भी प्रयोग होता है। उसका प्रारम्भ किसी मंगलवाची श्लोक से किया गया है। उसमें खल-निन्दा एवं सज्जनों का यशोगान होता है।[4] आख्यायिका भी कथा की ही भाँति गद्य काव्य का रूप है, जिसमें प्रायः कथा की ही उक्त विशेषताएँ हुआ करती हैं। इसमें भिन्नता इस बात में होती है कि कवि अपने वंश के अनुकीर्तन के साथ-साथ इसकी कृतियों की भी चर्चा करता है। इसमें स्थान-स्थान पर, पद्यबद्ध सूक्तियां भी हुआ करती हैं। यह आश्वासों में नियमित होती है और इसमें आरंभ में आर्या या वक्त्रापवक्त्र छन्दों में किसी अवान्तर विषय को लेकर, वर्ण्य-विषय की सूचना दी जाती है।[5]

---

1. सुप्रसिद्ध वैयाकरण कात्यायन (400 ई॰ पू॰) आख्यायिका से भलीभाँति परिचित थे। महाभाष्यकार पतंजलि (200 ई॰ पू॰) का महाभाष्य भी गद्य की समृद्धि का परिचायक है।
   गैरोला वा॰-सं॰ सा॰ का सां॰ इति॰, पृ॰ 806
2. उपा॰ बल॰-स॰ सा॰ का इति॰, अष्टम परि॰, पृ॰ 383
3. सा॰ दर्पण, षष्ठ परि॰, पृ॰ 226-27
4. वही, पृ॰ 226
5. वही, पृ॰ 226-27

भोजप्रबन्ध एक कथा-संग्रहात्मक चम्पू ग्रंथ है, जिसमें श्री-बल्लाल कवि ने महाराज भोज से सम्बद्ध अनेकानेक कथाओं को एक सूत्र में पिरोया है। सारी कथाएं, परस्पर भिन्न होते हुए भी, कवि-कौशल द्वारा एक बृहत्कथा के रूप में निबद्ध प्रतीत होती हैं। ये सब कथाएं एक-दूसरे को समझने में सहायक हैं अर्थात् उत्तरवर्ती कथा को सही-सही समझने हेतु, पूर्ववर्ती कथा एवं कथामुख को जानना आवश्यक है। अत एव यह कोई साधारण कथा-संग्रह नहीं है। वस्तुतः यह एक ऐसा कथा संग्रह है जिसकी परस्पर संबद्ध कथाएं, हमें कुछ संदेश देना चाहती हैं।[1]

बन्ध के आधार पर गद्य के निम्न भेद, काव्याचार्यों द्वारा किए गए हैं-

वृत्तगन्धोज्झितं गद्यं मुक्तकं वृत्तगन्धिं च।
भवेदुत्कलिकाप्रायं चूर्णकं च चतुर्विधम्॥[2]

अर्थात् 'गद्य' वह शब्दार्थ-योजना है जो छन्दोबद्ध नहीं होती। गद्य के चार प्रकार हैं- मुक्तक, वृत्तगन्धि, उत्कलिकाप्राय और चूर्णक। इनमें से 'मुक्तक' वह गद्यबन्ध है जो असमस्त पदों में रचा जाए, वृतगन्धि में वृत्तों के अंश यत्र-तत्र प्रतीत हुआ करते हैं, उत्कलिकाप्राय में लम्बे-लम्बे समास पद होते हैं तथा चूर्णक में छोटे-छोटे समस्त पदों का उपनिबन्धन होता है।[3]

भोजप्रबन्ध के सरल एवं प्रवाहमय गद्य में हमें इन चारों ही गद्यबन्धों के दर्शन होते है। यथा-

मुक्तक-**'राजा तान्प्राह-एतत्स्वरूपं ज्ञातमेव। भवद्भिर्यथार्थतया वाच्यम्।' ततस्तैः सर्वमेव निवेदितम्। ततो राजा विचारितवान्-'सर्वथा कालिदासश्चारणवेषेण मद्भयान्मदीयनगरमध्यास्ते।' इत्यादि।**[4]

---

1. विस्तार हेतु-शिल्प विवेचन (तृतीय अध्याय) द्रष्टव्य
2. सा॰ दर्पण, षष्ठ परि॰, पृ॰ 226, श्लोक 33
3. वही-षष्ठ परि॰, पृ॰ 327, श्लोक 33
4. भो॰ प्र॰ : पृ. 140, 141 (अग्रे द्रष्टव्य)

यहां प्रत्येक पद मुक्त अथवा अन्य पद-निरपेक्ष रहने के कारण सुन्दर लग रहा है।

वृत्तगन्धि- **वृत्तभागयुतं परम्।**[1]

अर्थात् वृत्त या छन्द से युक्त जो गद्य भेद होता है, वह वृत्तगन्धि कहलाता है। इसके भी कतिपय उदाहरण भोजप्रबन्ध के अवलोकन से दृग्गोचर होते हैं।

उत्कलिकाप्राय-**ततः प्रतोलीषु राजभवनप्राकारवेदिकासु बहिर्द्वारविटङ्केषु पुरसमीपेषुभेरीपटहमुरजमड्डकडिण्डिमनिनादाडम्बरेणाम्बरं विडम्बितमभूत्। इत्यादि।**[2]

यहाँ लम्बे-लम्बे समस्त पद स्पष्ट दिखाई दे रहे हैं।

चूर्णक-**'ततो निशानाथहीनेव निशा, दिनकरहीनेव दिनश्रीः, वियोगिनीव योषित्, शक्ररहितेव सुधर्मा, न भाति भोजभूपाल सभा रहिता कालिदासेन।' इत्यादि।**[3]

यहाँ स्वल्प समास वाले पदों की योजना का सौन्दर्य स्पष्ट झलक रहा है।

यदि संस्कृत-साहित्य की गद्य-शैली का अवलोकन किया जाए, तो साहित्यिक काव्यों में स्पष्टरूपेण दो शैलियाँ प्राप्त होती हैं-एक अलंकृत शैली तथा दूसरी नैसर्गिक शैली।[4]

अलंकृत गद्य शैली का उदय यद्यपि सुबन्धु[5] (षष्ठ शती का अन्त) से भी प्राचीन जान पड़ता है, पर उसका स्पष्ट रूप हमें सर्वप्रथम उनकी 'वासवदत्ता' में ही प्राप्त होता है। इसी अलंकृत गद्य-शैली के मार्ग पर बाणभट्ट, तथा अन्य गद्य एवं चम्पू कवि चलते रहे हैं। यहाँ तक कि आचार्य दण्डी भी जिनका झुकाव नैसर्गिक गद्य शैली की ओर है, इस अलंकृत गद्य शैली को सर्वथा न त्यागते हुए, उपर्युक्त दोनों

1. साहित्य दर्पण, षष्ठ परि०, पृ० 226
2. भो० प्र०, कथामुख, पृ० 110 (अग्रे द्रष्टव्य)
3. वही, पृ० 137
4. व्यास, भोलाशंकर : भो० प्र०, भूमिका, पृ० 5
5. उपा० बल०-सं० सा० का इतिहास, पृ० 384

शैलियों के मध्यम मार्ग का आश्रय लेते हैं।

नैसर्गिक संस्कृत गद्य शैली, सहज एवं सरल गद्य रचनाओं में प्राप्त होती है। इनमें से कुछ प्रमुख रचनाएं हैं-पंचतन्त्र, हितोपदेश, सिंहासन-द्वात्रिंशत्पुत्तलिका इत्यादि। कहना न होगा कि, भोजप्रबन्ध का गद्य भी इसी सरल नैसर्गिक मार्ग का पथिक है।

वस्तुतः श्रीबल्लाल तथा अन्य कथाकारों ने भी गद्य की सहज एवं नैसर्गिक शैली का अवलम्बन संभवतः इसलिए लिया, क्योंकि वे अपने ग्रन्थों को सरल, सहज एवं बोधगम्य बनाना चाहते थे। इस सरल-गद्य के कारण ही इसकी कथा की प्रवाहमयता बनी रहती है। अलंकृत-शैली के गद्य में मस्तिष्क का व्यायाम भी अधिक होता है और कथा का प्रवाह भी बाधित होता है। और वैसे भी श्रीबल्लाल तो काव्य में सहजता एवं नैसर्गिक सौन्दर्य के ही उपासक हैं। इसका प्रमाण हैं-

यत्सारस्वतवैभवं गुरुकृपापीयूषपाकोद्भवं
तल्लभ्यं कविनैव नैव हठतः पाठप्रतिष्ठाजुषाम्।
कासारे दिवसं वसन्नपि पयः पूरं परं पङ्किलं
कुर्वाणः कमलाकरस्य लभते किं सौरभं सैरिभः॥[1]

अर्थात् जिस कवि को गुरु की दया रूपी सुधा के पाक से जो सरस्वती का वैभव मिलता है (वही कवि है), दुराग्रह से पाठ के प्रतिष्ठास्पदों को वह वैभव नहीं मिलता (अर्थात् दुराग्रह से कोई उत्तम कवि नहीं हो सकता)। तालाब में दिन भर रहते हुए भी जलराशि को अत्यधिक गंदा करने वाला भैंसा क्या कमलों वाले तालाब की सुगन्ध को पा सकता है। इस उपर्युक्त प्रमाण के प्रकाश में श्रीबल्लाल कवि की नैसर्गिक-काव्य में रुचि स्वयमेव उद्घाटित हो जाती है। तब ऐसे में, वे स्वयं भला अलंकृत शैली का आश्रय कैसे ले सकते थे?

इनकी सहज एवं प्रवाहमयी गद्य-भाषा के कतिपय उदाहरण यहाँ उद्धृत करना अप्रासंगिक न होगा।

---

1. भो० प्र०, श्लोक 95

'आदौ धाराराज्ये सिन्धुलसंज्ञो राजा चिरं प्रजाः पर्यपालयत्। तस्य वृद्धत्वे भोज इति पुत्रः समजनि। स यदा पञ्चवार्षिकस्तदा पिता ह्यात्मनो जरां ज्ञात्वा मुख्यामात्यानाहूयानुजं मुञ्जं महाबलमालोक्य पुत्रं च बालं वीक्ष्य विचारयामास-'यद्यहं राज्यलक्ष्मीभारधारणसमर्थं सोदरमपहाय राज्यं पुत्राय प्रयच्छामि, तदा लोकापवादः। अथवा बालं मे पुत्रं मुञ्जो राज्यलोभाद्विषादिना मारयिष्यति, तदा दत्तमपि राज्यं वृथा। पुत्रहानिर्वंशोच्छेदश्च।[1] इत्यादि।

उपर्युक्त उदाहरण में, कथा की पृष्ठभूमि का निर्माण तथा राजा सिन्धुल की विचार प्रक्रिया का निबन्धन बड़ा ही सप्रवाह, सहज एवं सरल है।

अपि च, **'एवं कोलाहलरवे जाते कश्चिदभ्यगात् कनकमणिकुण्डलशाली दिव्यांशुकप्रावरणो नृपकुमार इव मृगमद-पङ्कजकलङ्कितगात्रो नवकुसुमसमभ्यर्चितशिराश्चन्दनाङ्गरागेण विलोभयन्विलास इव मूर्तिमान् कवितेव तनुमाश्रितः शृंगाररसस्य स्यन्द इव सस्यन्दो महेन्द्र इव महीवलयं प्राप्तो विद्वान्।'**[2]

इस गद्यांश में श्रीबल्लाल ने महाकवि कालिदास का भोज सभा में प्रथम आगमन का वर्णन किया है। यह वर्णन आलंकारिक अवश्य है, परन्तु कहीं भी बोधगम्यता का अभाव इसमें दृग्गोचर नहीं होता।

अन्य भी, **राजा प्राह कुतूहलात्-विद्वन्, याचस्व कोशाधिकारिणाम्। लक्षं दास्यति मद्वचसा। ततो विद्वान्काष्ठं भूमौ निक्षिप्य कोशाधिकारिणं गत्वा प्राह-'महाराजेन प्रेषितोऽहम्। लक्षं मे दीयताम्। 'ततः स हसन्नाह-'विप्र, भवन्मूर्तिः लक्षं नार्हति।' ततो विषादी स राजानमेत्याह-'स पुनर्हसति देव, नार्पयति।' राजा कुतूहलादाह-'लक्षद्वयं प्रार्थय। दास्यति।' पुनरागत्य विप्रः 'लक्षद्वयं देयमिति राज्ञोक्तम्' इत्याह। स पुनर्हसति। विप्रः पुनरपिभोजं प्राप्याह-'स पापिष्ठो मां हसति, नार्पयति।' ततः कौतूहली लीलानिधिर्महीं**

---

1. भो॰ प्र॰ : पृ. 105 (अग्रे द्रष्टव्य)
2. वही : पृ. 120

शासञ्श्रीभोजराजः प्राह विप्र, लक्षत्रयं याचस्व। अवश्यं स दास्यति।' इत्यादि।[1]

इस उपर्युक्त गद्यांश में, छोटे-छोटे वाक्यों तथा कथोपकथनों द्वारा, विप्र का अधिकारी के पास बार-बार आवागमन और भोज की कौतुकप्रियता की सुन्दर अभिव्यंजना हो रही है।

'ततो राजा माघं विपन्नं नर्मदातीरं नीत्वा यथोक्तेन विधिना संस्कारमकरोत्। तत्र च माघपत्नी वह्नौ प्रविष्टा। तयोश्च पुत्रवत्सर्वं चक्रे भोजः। ततो माघे दिवं गते राजा शोकाकुलो विशेषेण कालिदासवियोगेन च पण्डितानां प्रवासेन कृशोऽभूद्दिने दिने बहुलपक्षशशीव।[2]

इस गद्यांश में, माद्य पण्डित की मृत्यु, उनकी पत्नी के अग्नि-प्रवेश तथा भोजराज द्वारा किए गए उनके संस्कार का अत्यंत मार्मिक चित्रण उपस्थित किया गया है। भोजप्रबन्ध के गद्य में, कहीं-कहीं पर, श्रीबल्लाल ने प्रकृति के चित्र देने के प्रयास भी किए हैं। यथा-

'कदाचिद्भोजो मृगयापर्याकुलो वने विचरन्विश्रमाविष्टहृदयः कंचित्तटाकमासाद्य स्थितवान्श्रमात्प्रसुप्तः। ततः प्रत्यूषसमये नगरीं प्रति प्रस्थितो राजा चरमगिरिनितम्बलम्बमानशशाङ्कबिम्बमवलोक्य सकुतूहलः सभामागत्य तदा समीपस्थान्कवीन्द्रान्निरीक्ष्य समस्यामेका-मवदत् 'चरमगिरिनितम्बे चन्द्रबिम्बं ललम्बे।'[3]

साथ ही, एक स्थान पर श्रीबल्लाल ने अपने चिकित्साशास्त्रविषयक ज्ञान का भी उल्लेख किया है-

'ततस्तावूचतुः-'राजन्, न भेतव्यम्। रोगो निर्गतः। किंतु कुत्रचिदेकान्ते त्वया भवितव्यम्' इति। ततो राज्ञापि तथा कृतम्। ततस्तावपि राजानं मोहचूर्णेन मोहयित्वा शिरःकपालमादाय तत्करोटिका पुटे स्थितं शफरकुलं गृहीत्वा कस्मिंश्चिद्भाजने निक्षिप्य संधानकरण्या

1. भो॰ प्र॰ : पृ. 150 अग्रे द्रष्टव्य
2. वही : पृ. 177
3. वही : पृ. 188, 189

कपालं यथावदारचय्य संजीविन्या च तं जीवयित्वा तस्मै तददर्शयताम्।'[1]

इसमें प्रयुक्त मोहचूर्ण (संभवतः क्लोरोफार्म) तथा संधान करणी आदि शब्द तथा यह समग्र विधि श्रीबल्लाल के शल्य-चिकित्साविषयक ज्ञान का प्रमाण है।

इस प्रकार, इन उदाहरणों के अवलोकन से यह स्पष्ट हो जाता है कि इन सभी में वर्णन-वैविध्य होने पर भी श्रीबल्लाल का गद्य अपनी नैसर्गिक सहजता का परित्याग कहीं भी नहीं करता। यह सरल एवं प्रवाहमय गद्य कथा के विकास की गति को तो बढ़ाता ही है, साथ ही यह उन छात्रों के लिए भी अत्युपयोगी सिद्ध हो सकता है, जो कि संस्कृत गद्य लेखन के व्युत्पित्सु हैं।

निष्कर्ष

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि भारतवर्ष में, चम्पू-काव्य किस प्रकार, विभिन्न काल-क्रमों में, विकसित एवं परिवर्धित हुआ तथा कैसे ह्रास को भी प्राप्त हुआ। इससे भोज प्रबन्ध का चम्पू-काव्यत्व भी सिद्ध होता है। यह एक गद्यपद्यमयी प्रबन्धात्मक रचना है, जो कि स्वरूप में कथा-संग्रहात्मक तथा उद्देश्यात्मक भी है। साथ ही, इस अध्याय से, भोजप्रबन्ध के पद्यों में वर्णित विभिन्न तत्त्वों (यथा समस्या-पूर्ति, प्रकृति, तथा स्तुति इत्यादि) को भी समझने में सहायता मिलती है।

---

1. भो॰ प्र॰ : पृ. 190 (अग्रे द्रष्टव्य)

3

भोजप्रबन्ध : शिल्प-विवेचन

भोजप्रबन्ध : शिल्प-विवेचन (फैण्टेसी)

साहित्य और भाषा का परस्पर गहरा सम्बन्ध है। भाषा के बिना साहित्य-सृजन की कल्पना भी कर पाना नितान्त अवैज्ञानिक और अतार्किक होगा। और भाषा, जैसा कि सर्वविदित है, प्रत्येक मानव-समूह की अलग-अलग होती है। भाषा की इस विविधता का प्रमाण है आज के भाषा-वैज्ञानिकों द्वारा किया गया भाषा का पारिवारिक वर्गीकरण, जिसमें भाषा-विशेष के आधार पर मानव-समूहों का विभाजन किया गया है। अत:, संसार में देशों, उन देशों की भाषाओं और उन भाषाओं के साहित्यों में वैभिन्न्य, स्पष्टत: दृक्‌गोचर होता है।

परन्तु, इस सब वैभिन्न्य के बाद भी, इनमें समानता का मिलना आश्चर्यजनक प्रतीत होता है। यह समानता हमें कई रूपों में मिलती है, जिनमें से मुख्य है-साहित्य की विधाओं में। संस्कृत में नाटक तथा अंग्रेजी में 'प्ले' इत्यादि को उदाहरण स्वरूप समझा जा सकता है, जिन्हें आभ्यन्तर संरचनाओं के विषय में मत-वैभिन्न्य होने पर भी, मूलत: एक ही विधा माना जाता है। इससे यह सिद्ध होता है कि साहित्य की विधाओं के लिए देश, भाषा एवं काल आदि की सीमाओं का कोई विशेष अर्थ नहीं। ये विधाएं विज्ञान के नियमों की भाँति होती हैं। प्रसिद्ध वैज्ञानिक न्यूटन के सिर पर सेब गिरा और उस क्षण ही से पृथिवी का गुरुत्वाकर्षण प्रारम्भ हुआ, ऐसा कदापि नहीं। यह तो ऐसे हुआ कि न्यूटन, मानो समाधि की चरम अवस्था में थे, उनके सिर पर वह सेब

गिरा और उन्हें ज्ञान अथवा साक्षात्कार हो गया। उन्होंने गुरुत्वाकर्षण के सिद्धान्त का प्रवर्तन नहीं किया, अपितु, उन्होंने उसे अन्वेषित कर, एक संज्ञाविशेष से अभिहित कर दिया। ठीक इसी प्रकार साहित्य में भी होता है। इसके भी सिद्धान्त एवं विधाएं तो सनातन होते हैं, आवश्यकता होती है, केवल योग्य अन्वेषकों की, जो कि उन्हें खोज कर, अभिहित कर, जन-समुदाय के समक्ष रख सकें, जिससे कि परिस्थितियों से प्रताड़ित मानव को स्व-मनोभावाभिव्यक्ति के नए-नए साधन प्राप्त हों।

कवि-गण इन्हीं अभिव्यक्ति के साधनों की मर्यादा में रहते हुए, निज युगीन सामाजिक, साहित्यिक एवं सांस्कृतिक परिवेशों तथा परि-स्थितियों का उद्घाटन करते हैं और उनकी रचनाओं में सामाजिक, स्व-मनोभावाभिव्यक्ति पाकर, उनसे तादात्म्य स्थापित कर, रसास्वादन प्राप्त करते हैं और कवि प्रसिद्धि तथा आत्म-तोष। कवि को भारतीय तथा पाश्चात्य दोनों ही परंपराओं में प्रजापति अथवा स्रष्टा का आदर प्रदान किया गया है-

अपारे काव्यसंसारे कविरेको प्रजापतिः।
यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते॥[1]

तथा

To Build from the matter is sublimely great;
But only Gods and Poets can create:[2]

तो यह सिद्ध हुआ कि कवि सर्वतन्त्र स्वतन्त्र स्रष्टा होता है और श्रीबल्लाल भी एक विद्वान् कवि हैं, तो वे भी स्रष्टा सिद्ध हुए और चूंकि वे स्रष्टा हैं, अतः अपने भावों की अभिव्यक्ति हेतु, अपने नवीन कल्पना-लोक का निर्माण स्वेच्छा से करने में सर्वथा सक्षम हैं। उन्होंने अभिव्यक्ति की जिस विधा को अपनाया, आज मनोविज्ञान एवं पाश्चात्य काव्यशास्त्र उसे 'फैण्टेसी' नाम से अभिहित करता है। श्रीबल्लाल सुदूर अतीत में, भारतवर्ष में, इसी अभिव्यक्ति-विधा के पोषक तथा परिवर्धक प्रतीत होते हैं।

---

1. ध्वन्यालोक, आनंदवर्द्धन, तृतीय उद्योत, कारिका 43
2. कॉडवेल, क्रिस्टोफर, इल्यूशन्स एण्ड रिएलिटी, पृ. 57-58 (अ.)

फैण्टेसी शब्द, भारोपीय ग्रीक भाषा के शब्द फैण्टेसिया[1] से आया है, जिसका अर्थ होता है 'मानव की प्रवाह रूप में या आवश्यकता पड़ने पर, एक काल्पनिक जगत् का निर्माण करने की अद्भुत सामर्थ्य।'

प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक सिगमण्ड फ्रायड के अनुसार, अतृप्त इच्छाएं फैण्टेसी की प्रेरक-शक्तियां हैं तथा दिवास्वप्नों की ओर इंगित करते हुए वे कहते हैं कि ये दोनों ही (अर्थात् फैण्टेसी एवं दिवास्वप्न) इच्छापूर्ति प्रदान करते हैं।[2]

अन्य मनोवैज्ञानिकों ने भी, फैण्टेसी को काल्पनिक चिन्तन का ही एक रूप माना है, जो वस्तु-जगत् की परिस्थितियों की अपेक्षा, व्यक्ति की मूल इच्छाओं, मूल वृत्तियों और भावों से अधिक नियंत्रित होता है।[3]

फैण्टेसी का प्रादुर्भाव

मनोविश्लेषणशास्त्र के अध्ययन ने भी इस महत्त्वपूर्ण तथ्य को प्रस्तुत किया है कि कविता का जन्म, प्रकृति और मनुष्य की जीवनेच्छा के मध्य स्थित अन्तर्विरोध से होता है, या दूसरे शब्दों में, कविता, मनुष्य की मूल प्रवृत्तियों और अनुभवों के तनाव का परिणाम होती है।

यही तनाव, यही असन्तोष और इन्हीं संवेगों की तीव्रता, कवि को फैण्टेसी के एक काल्पनिक जगत् की सृष्टि करने के लिए विवश करते हैं, जो वस्तु-जगत् से एक निश्चित और सक्रिय सम्बन्ध रखता है। अर्थात् फैण्टेसी कल्पना मात्र नहीं, प्रत्युत उसका अपना एक निश्चित भौतिक आधार है और जहाँ से वह जन्म लेती है, उसी पर प्रभाव भी डालती है।[4]

---

1. इण्टरनेशनल एनसाइक्लोपीडिया आफ सोशल साइन्सेज़, भाग 5, पृ 327
2. काडवेल क्रि॰ : इल्यूशन्स एण्ड रिएलिटी, पृ॰ 181 (अ॰)
3. द्रष्टव्य-(1) इनसाक्लोपीडिया अमेरिकाना, पृ॰ 176 (अ॰)
   (2) इण्टर॰ एन॰ आफ सोशल साइ॰, भाग 5, पृ॰ 327 (अ॰)
   (3) द सोशल साइन्सेज़ इन॰, पृ॰ 293-294 (अ॰)
4. काडवेल क्रि॰ : इल्यू॰ एण्ड रिएलिटी, पृ॰ 199 (अ॰)

प्रसिद्ध मार्क्सवादी विद्वान् जार्ज थामसन के अनुसार 'फैण्टेसी इच्छित यथार्थ की पूर्ति है, यह एक जादू है, एक भ्रांति है, जो यथार्थ के ही ढंग की है, लेकिन यह भ्रांति भी बेकार नहीं है। यह यथार्थ के प्रति मनुष्य के दृष्टिकोण को बदलती है और इस प्रकार अप्रत्यक्ष रूप से यथार्थ को भी बदलती है।'[1]

वे सभी साहित्यकार, जो कि भोजप्रबन्ध को तथा श्रीबल्लाल कवि को, अब तक भांति-भांति के असज्जनोचित वक्तव्यों द्वारा 'उपकृत' करते आए हैं, यदि इस दृष्टि से भोजप्रबन्ध का पुनर्मूल्यांकन करें, तो कदाचित् इसमें उन्हें इतने दोष न दिखें। जब कोई कवि रचना करने को उद्यत होता है, तो उसके अन्तःकरण में यह भाव कदापि नहीं होता कि मैं ऐसी कपोल-कल्पना लिखने जा रहा हूँ, जिसका अनुशीलन कर, आगे आने वाली पीढ़ी दिग्भ्रमित हो जाए। पर, भोजप्रबन्ध में हम ऐसा ही देखते हैं। यहाँ जब हम सारे प्रसिद्धाप्रसिद्ध कवियों को एक ही साथ, एक ही स्थान पर पाते हैं, तो यह सोचने को विवश हो जाते हैं कि ये अवश्य ही कपोल-कल्पना है। अब तक के अधिकांश विद्वत्समुदाय ने ऐसा ही माना और सम्भवतः यही कारण है कि किसी और दृष्टिकोण से भोजप्रबन्ध के आकलन की आवश्यकता का अनुभव नहीं किया गया। इसी विद्वत्समुदाय की मान्यता के प्रमाणरूप में प्रसिद्ध भारतीविद्याविद् एम॰ विन्तर्नित्स का यह कथन उद्धृत किया जा सकता है-'इसमें (भोज प्रबन्ध में) सर्वत्र अनैतिहासिकता पराकाष्ठा पर पहुँच गई है तथा बहुत-से पूर्व समय के अनुसन्धायकगण इसके कारण धोखा खा चुके हैं।'[2]

परन्तु, ऐसा नहीं हैं। श्रीबल्लाल कवि ने इस उद्भावना को हास्य का पात्र बनने के लिए तो नहीं ही प्रणीत किया होगा। तब क्या कारण हो सकता है, उनकी इस अद्भुत कल्पना का? आइए, फैण्टेसी के परिप्रेक्ष्य में, इस कारण का अन्वेषण करें।

---

1. थामसन जार्ज : मार्क्सिज्म एण्ड पोएट्री
2. विन्तर्नित्स, एम॰ : भा॰ सा॰ का इतिहास, भाग 3, खण्ड 1, पृ॰ 447-48

भोजप्रबन्ध के विषय में दो प्रश्न, इसके अध्ययन के साथ ही, हमारे समक्ष आते हैं–

(1) काल–क्रम से भिन्न–भिन्न समय पर हुए सभी प्रसिद्ध–अप्रसिद्ध कवियों को धाराधीश भोज की सभा में क्यों दिखाया गया है?

(2) महाकवि कालिदास को उन सबमें सर्वश्रेष्ठ क्यों चित्रित किया गया है।

इन दो प्रश्नों के उत्तर ढूँढ़ने के साथ ही, कारणान्वेषण का कार्य भी सम्पन्न हो जाएगा।

जैसा कि अभी विवेचित किया गया है कि फैण्टेसी के मूल में तनाव (अथवा अन्तर्विरोध) होता है, जिसकी प्रतिक्रिया–स्वरूप उठने वाले तीव्र संवेग, कवि के मानस को, अपने इच्छित यथार्थ की पूर्ति हेतु, फैण्टेसी–शिल्प का आश्रय लेने को प्रेरित करते हैं। श्रीबल्लाल कवि सोलहवीं शती में हुए थे। संस्कृत–साहित्य के इतिहास पर यदि हम दृष्टिपात् करें तो हम पाते हैं कि वह काल काव्य–रचनाओं के क्षेत्र में कोई विशेष महत्त्व नहीं रखता। बारहवीं शती के उत्तरार्द्ध में रचित महाकवि श्रीहर्ष के 'नैषधीयचरितम्' के पश्चात् अन्य किसी उल्लेखनीय महाकाव्य का दर्शन भी नहीं होता।[1]

और श्रीबल्लाल के समय तक तो परिस्थितियाँ और अधिक परिवर्तित हो चुकी थीं। राजनैतिक एवं सामाजिक कारणों से, रचनाओं में वीर रस भी ह्रासोन्मुख हो चुका था। तत्कालीन कविगण, शृंगारिक रचनाओं में रमणियों के नख–शिख–वर्णन, अथवा राजाओं के अतिरंजित वर्णनों द्वारा स्वार्थ–सिद्धि में तल्लीन थे। कविता केवल राजसभाओं तक ही सीमित होकर रह गई थी। संक्षेप में कहें तो संस्कृत काव्यधारा अवनत्युन्मुख हो चली थी।

---

1. उपाध्याय बलदेव : स॰ सा॰ का इति॰, पृ॰ 228
   अपि द्रष्टव्य : गैराला वाच॰, स॰ सा॰ का स॰ इति॰, पृ॰ 193–195

ऐसी परिस्थिति में किसी साधारण संस्कृत-प्रेमी का भी उद्वेलित हो उठना स्वाभाविक प्रतीत होता है। फिर श्रीबल्लाल तो देवी सरस्वती और संस्कृत भाषा के परमोपासक थे। वे स्वयं तो ज्योतिर्विदों के प्रख्यात कुल में उत्पन्न हुए ही थे[1], साथ ही उन्हें संस्कृत साहित्य, पुराणों, चिकित्सा-शास्त्र आदि का प्रखर ज्ञान था। इन तथ्यों के प्रमाण हमें भोजप्रबन्ध के गाढ़ानुशीलन[2] से स्वयमेव प्राप्त हो जाते हैं। अतः, इन जैसे साहित्य-प्रेमी का ध्यान, देवभाषा के पुनःप्रतिष्ठापन की ओर जाना नितान्त स्वाभाविक है। यही था इनका अन्तर्विरोध जिसने इन्हें इस रचना को प्रणीत करने पर बाध्य किया। अब हम उन दो प्रश्नों के उत्तरों के अन्वेषण का प्रयास करते हैं, फैण्टेसी के प्रकाश में। ये दोनों प्रश्न उत्तर की दृष्टि से परस्पर गुम्फित हैं। अतः पहले प्रश्न संख्या दो का उत्तर दिया जा रहा है जो कि प्रश्न संख्या एक के उत्तर के आधार का भी निर्वहण करेगा।

श्रीबल्लाल ने भोजप्रबन्ध में दिखलाया है कि महाकवि कालिदास धारा नगरी की राजसभा में विशेष रूप में सम्मानित एवं समादृत हो रहे हैं। वस्तुतः, महाकवि कालिदास संस्कृत साहित्य में इतने प्रतिष्ठित हैं कि संस्कृत का नाम आते ही, उन्हीं का नाम रसनाग्र पर थिरकने लगता है।[3] यदि हम संस्कृत साहित्य का पर्यायवाची महाकवि को कहें तो सम्भवतः अतिशयोक्ति न होगी। और उन्हें यह प्रतिष्ठा यूं ही प्राप्त नहीं हो गई। इसके लिए उन्होंने जो कठोर काव्य-साधना की, वह जगत्प्रसिद्ध है। और इसीलिए, उनके रचना-काल को भी विद्वत्समुदाय ने संस्कृत-साहित्य के उत्कर्ष-काल के रूप में वर्णित किया है।[4] तो जब श्रीबल्लाल कवि, महाकवि कालिदास का उल्लेख करते हैं तो वे केवल महाकवि कालिदास नामक व्यक्तिविशेष का उल्लेख नहीं कर रहे हैं,

1. डा॰ गोरखनाथ : भा॰ ज्यो॰ का इतिहास, पृ॰ 193-195
2. पुराणों के संकेत-श्लोक 82, 84, 92, 259
   चिकित्सा-शास्त्र-अश्विनौ-प्रसंग।
   भो॰ प्र॰ : पृ. 189-191 (अग्रे द्रष्टव्य)
3. पुरा कवीनां गणनाप्रसंगे कनिष्ठिकाधिष्ठति कालिदासः।
   अद्यापि तत्तुल्य कवेऽर्भावात् अनामिका सार्थवती बभूव।।
4. विशेष द्रष्टव्य-उपा॰ बलदेव : स॰ सा॰ का इतिहास

अपितु वे उल्लेख कर रहें हैं संस्कृत-साहित्य के उत्कर्ष-काल का, उन साहित्यिक एवं सांस्कृतिक मूल्यों का, जिन्हें हम महाकवि की रचनाओं में सर्वत्र परिव्याप्त पाते हैं जिनसे संस्कृत साहित्य गौरवान्वित हो पाया। अतः यह सिद्ध होता है कि महाकवि कालिदास उन्हीं साहित्यिक एवं सांस्कृतिक मूल्यों के प्रतीक के रूप में यहाँ स्मृत हैं। महाकवि का शाकुन्तल नाटक, जिसमें महाकवि की प्रेम की अलौकिक अवधारणा, इन्हीं मूल्यों के चूडान्त निदर्शन के रूप में चित्रित है। (इसमें दर्शाया गया है कि किस प्रकार वासनात्मक प्रेम, विरहाग्नि में तपकर, शुद्ध होकर, विशुद्ध आत्मिक प्रेम में परिणत होता है तथा विशुद्ध प्रेम शारीरिक नहीं, अपितु आत्मिक ही होता है)।

अब यह स्पष्ट हो जाता है कि, सभी प्रसिद्धाप्रसिद्ध कवियों को भोजराज की सभा में एकत्रित करने और उन सब में महाकवि कालिदास को सर्वश्रेष्ठ घोषित करने के व्याज से, श्रीबल्लाल बताना चाहते हैं कि संस्कृत-साहित्य के उत्कर्ष-काल के मूल्य ही श्रेष्ठतम थे, जो संस्कृत को पुनः गौरव प्रदान कर सकते हैं। अतः कवियों को उन मूल्यों को ध्यान में रखते हुए ही रचना करनी चाहिए।

एक और उल्लेखनीय बात यह है कि यहाँ पर चर्चित सभी प्रसिद्ध कवि (यथा बाण, मयूर, माघ, भवभूति और दण्डी इत्यादि) भिन्न-भिन्न काल-क्रमों में हुए हैं और इन सभी ने स्व-विशेषताओं के कारण प्रसिद्धि प्राप्त की है। पर भोजप्रबन्ध में, जब हम देखते हैं कि कालिदास को ही सर्वश्रेष्ठ घोषित किया जा रहा है तो हमें पक्षपात का आभास होता है। पर, यह पक्षपात भी अर्थहीन एवं अनायास नहीं है। सूक्ष्म विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि महाकवि कालिदास के पश्चाद्वर्ती प्रायः सभी कवि शनैः-शनैः अलंकृत काव्य की ओर अग्रसर होते जा रहे थे। काव्य में, नैसर्गिक सहजता का जो आदर्श महाकवि के काव्य में उपलब्ध होता है, वह पश्चाद्वर्ती कवियों में नहीं। अतः श्रीबल्लाल का यह आशय भी स्पष्ट होता है कि काव्य में सहजता का प्राधान्य हो, अलंकरण का नहीं। इसीलिए, अन्य सभी कवियों की अपेक्षा कालिदास का उत्कर्ष दिखाया गया है। (इसी सहजता का संकेत

तन्तुवायवृत्तान्त[1] में भी प्राप्त होता है)।

कुछ विद्वान् कह सकते हैं कि यह ठीक है कि कालिदास यहाँ उत्कर्ष-काल के प्रतीक के रूप में चित्रित हैं, और नैसर्गिक सहजता के हेतु, अन्य कवियों की अपेक्षा उत्कृष्ट भी, पर राजा भोज की ही सभा में क्यों?

राजा भोज भी वस्तुतः नृपवर्ग या कवियों के गुणग्राही आदर्श आश्रयस्थल का प्रतीक है। इन नृपेन्द्रों ने ही समय-समय पर अनेकानेक महाकवियों एवं देवी सरस्वती के उपासकों को आश्रय देकर, प्रत्यक्ष रूप से उनकी तथा अप्रत्यक्ष रूप से संस्कृत-साहित्य की सेवा एवं सहायता की है। और जहाँ तक नृपवर्ग प्रतीक के रूप में राजा भोज के औचित्य का प्रश्न है, तो संस्कृत साहित्य में केवल दो ही राजाओं को यह सम्मान प्राप्त हुआ है कि वे कथाओं का आधार बन सकें। एक विक्रमादित्य और दूसरे महाराज भोज। इनमें से विक्रमादित्य को लेकर तो अनेक कथा-संग्रहों यथा वेतालपंचविंशति, सिंहासनद्वात्रिंशिका इत्यादि का प्रणयन हो चुका था। फिर, 'विक्रम' शब्द एक संज्ञा-मात्र न रहकर, एक उपाधि की प्रतिष्ठा को पा चुका था। भारतवर्ष में अनेक राजा विक्रम हुए हैं, और उनमें से भी दो तो परम प्रतापी के रूप में विख्यात हैं-एक विक्रमादित्य प्रथम, दूसरे चंद्रगुप्त विक्रमादित्य (गुप्तकालीन)। तो सम्भवतः, श्रीबल्लाल ने अपनी यथार्थाधारित कल्पना का आधार, महाराज भोज को बनाना अधिक उचित समझा होगाा क्योंकि उनके विषय में कोई ऐसा मतभेद भी नहीं था, तथा वे थे भी विक्रम से अर्वाचीन (भोजराज 11वीं शती में हुए थे)।[2] ये भी अत्यन्त दानवीर थे। श्रीबल्लाल के समय अर्थात् सोलहवीं शताब्दी तक आते-आते भोजराज अत्यन्त लोकप्रिय, उदार एवं दानशील राजा के रूप में ख्यातिलब्ध हो चुके थे। इन्हीं गुणों को श्रीबल्लाल ने, भोजप्रबन्ध के कथामुख में चित्रित किया है। वस्तुतः, यह कथामुख आगे आने वाली कथा के लिए आधारभूमि का कार्य करता है। राजा भोज का शैशव, ज्योतिषी द्वारा उनके लिए की गई भविष्यवाणी[3] बालक भोज की हत्या का समाचार

1. भो॰ प्र॰, श्लोक 94-98
2. आ॰ उपा॰ बलदेव : स॰ सा॰ का इति॰, पृ॰ 609
3. द्रष्टव्य : भोजप्रबन्ध, श्लोक 6,
'भोजराजेन भोक्तव्यः सगौडो दक्षिणापथः।।'

सुनने पर जन-समुदाय द्वारा अभिव्यक्त विद्रोहमूलक प्रतिक्रिया[1] और उनके जीवित होने का समाचार सुनने पर नगरवासियों द्वारा कृत उनका स्वागत-सम्मान[2], ये सभी घटनाएं इस फैण्टेसी में सक्रियता लाते हुए, आगे आने वाली कथा में भोज को एक दानशील, लोकप्रिय, विद्वत्प्रिय, साहसी एवं दयालु नृप के रूप में प्रख्यापित करते हैं। भोजराज को एक आदर्श प्रतीक दर्शाने हेतु यह सब आवश्यक था। कालिदास तो पहले से ही प्रतिष्ठित एवं सम्मानित थे, अतएव उनके लिए ऐसी किसी पृष्ठभूमि की अपेक्षा न थी।

कथा में दो बार, भोजराज महाकवि कालिदास से रुष्ट होकर उन्हें निर्वासित कर देते हैं और दोनों ही बार विनयपूर्वक वापस भी बुलाते हैं। पर तीसरी बार, ऐसा होता है कि भोज अपनी मृत्यु पर कहे जाने वाले श्लोक को महाकवि कालिदास के मुख से सुनना चाहते हैं। इस बार कालिदास रुष्ट होकर चले जाते हैं, क्योंकि योग्य आश्रय के अभाव में कविता का ह्रास होना तथा कवियों को यथोचित सम्मान न मिलना स्वाभाविक है। यहाँ फैण्टेसी की सक्रियता फिर हमारे सामने प्रकाशित होती है-जब महाकवि यह श्लोक पढ़ते हैं-

अद्य धारा निराधारा निरालम्बा सरस्वती।
पण्डिताः खण्डिताः सर्वे भोजराजे दिवं गते।।[3]

इस प्रकार राजा भोज, एक आदर्श प्रतीक के रूप में हमारे समक्ष उपस्थित होते हैं। अपि च, श्रीबल्लाल ने यह भी सोचा होगा कि यदि इन महान् सरिता रूपी कवियों का कोई संगम-स्थल हो सकता है, तो वह राजा भोज जैसा कोई गुणाकर ही हो सकता है। और, संस्कृत-साहित्य

---

1. 'ततो गृहीते भोजे लोकाः कोलाहलं चक्रुः......प्राणपरित्यागं विदधुः।।'
   भो॰ प्र॰ : पृ. 110 (अग्रे द्रष्टव्य)
2. 'गजेन्द्रारूढो.......राजभवनमगात्।।'
   वही, पृ. 114
3. वही, श्लोक 326

के उत्कर्ष-काल के मूल्यों के प्रतिनिधित्व के लिए, महाकवि कालिदास से उत्कृष्ट कोई प्रतीक सम्भवतः अद्यापि समुपलब्ध न हो। प्रतीकों के चयन में इस सावधानी एवं सूक्ष्मता को श्रीबल्लाल की यथार्थप्रियता के प्रमाण के रूप में भी उद्धृत किया जा सकता है।

इस प्रकार यह प्रमाणित हो जाता है कि भोजप्रबन्ध में सभी कवियों के एक साथ उपस्थित करने और उनमें महाकवि कालिदास को सर्वोत्कृष्ट दर्शाने के पीछे, कवि श्रीबल्लाल का पुनीत उद्देश्य था : काल के प्रवाह के साथ लुप्तप्राय होते जा रहे गौरवशाली साहित्यिक एवं सांस्कृतिक मूल्यों का पुनर्स्थापन, जिससे कि संस्कृत वाङ्मय फिर से समृद्ध एवं गौरवशाली हो सके।

फैण्टेसी, यद्यपि अधुना एक अयथार्थवादी शिल्प माना जाता है[1], परन्तु वस्तुतः ऐसा नहीं है। फैण्टेसी के प्रयोग में कई प्रकार की सुविधाएं होती हैं, जिनका उल्लेख हिन्दी के प्रसिद्ध आलोचक गजानन माधव मुक्तिबोध ने इस प्रकार किया है-'एक तो यह कि जिए और भोगे गए जीवन की वास्तविकताओं के बौद्धिक अथवा सारभूत निष्कर्षों को अर्थात् जीवन-ज्ञान को (वास्तविक जीवनचित्र न उपस्थित करते हुए) कल्पना के रंगों में उपस्थित किया जा सकता है। इस प्रकार की ज्ञान-गर्भ फैण्टेसी वास्तविक जीवन का ही प्रतिनिधित्व करती है। लेखक वास्तविकता के प्रदीर्घ चित्रण से बच जाता है। वह संक्षेप में, ज्ञानगर्भ फैण्टेसी द्वारा, सार-रूप में, जीवन की पुनर्रचना करता है' 'काव्य में यथार्थ की असमापनीयता, विसंगति, संश्लिष्टता, आत्मपक्ष और वस्तुपक्ष, सबको एक साथ समेटने के लिए जरूरी है कि कवि फैण्टेसी का सहारा ले।'[2]

इन शब्दों के प्रकाश में, भोजप्रबन्ध को देखने से इसके विषय में विद्यमान सारे विभ्रम समाप्तप्राय हो जाते हैं। श्रीबल्लाल ने अपने संवेगों को तथा अपने असन्तोष को भोजप्रबन्ध के माध्यम से मुखरित किया है। उन्हें उन लुप्तप्राय मूल्यों का पुनर्स्थापन करना था, साथ ही,

1. लूनाचार्स्की, अनातोले: 'यथार्थ से असन्तुष्ट व्यक्ति ही फैंटेसी की ओर मुड़ते हैं।'
2. मुक्तिबोध, ग॰ मा॰ : कामायनी : एक पुनर्विचार, पृ॰ 6

किन मूल्यों को आदर्श मानकर, उनके समकालीन अथवा पश्चाद्वर्ती रचनाकार, अपनी रचनाओं का प्रणयन करें, यह भी दर्शाना था। अब इसका एक उपाय था कि वे 'संस्कृत-साहित्य की विशद-विवेचना' नामक कोई ग्रन्थ लिखते, जिसमें महाकवि कालिदास से लेकर, अपने समय तक, काव्य एवं रचनाओं की शैली, भाषा, संरचना आदि का क्रमिक विकास (अथवा ह्रास) दर्शाते और फिर उपसंहार में, आदर्श मूल्यों एवं भाषादि तत्त्वों का निर्देश देते। और दूसरा उपाय था कि वे भोजप्रबन्ध नामक फैण्टेसी का प्रणयन करते, जिसमें एक छोटे से ग्रन्थ में (मात्र 327 श्लोकों में), सार-रूप में जीवन की पुनर्रचना कर, वे अपनी बात कह देते। उन्होंने दूसरा उपाय चुना और मूल्यों के पुनर्स्थापन का प्रयास किया।

विद्वानों का मानना है कि फैण्टेसी मात्र कपोलकल्पना नहीं अपितु यह यथार्थ पर आधारित होती है और इसका यथार्थ से निश्चित एवं सक्रिय सम्बन्ध होता है। भोजप्रबन्ध में, जिन भी कवियों का उल्लेख है, वे किसी-न-किसी समय में हुए अवश्य हैं। और जैसा कि अभी बताया गया है कि कालिदास यहाँ उत्कर्ष काल के मूल्यों के रूप में स्मृत हैं। और सम्बन्ध सदा उभयाश्रित होता है तो यहाँ अर्थात् भोजप्रबन्ध में, आधार (महाकवि कालिदास) और आधेय (वे मूल्य) में जो तादात्म्य, जो अभिन्नता है, वही इनके निश्चित अथवा विशिष्ट सम्बन्ध का द्योतक है। इसे हम इस प्रकार भी समझ सकते हैं:-

(1) कालिदास उन्हीं मूल्यों के पोषक एवं प्रवर्द्धक थे;
(2) वे मूल्य हमें उनके काव्य में उत्कृष्टतया चित्रित मिलते हैं।

यही है इनका सम्बन्ध विशेष अथवा निश्चित सम्बन्ध। और इन मूल्यों तथा महाकवि की रचनाओं में मिलने वाला समान सन्दर्भ सूत्र इनके इस विशिष्ट संबंध को सक्रिय अर्थात् क्रिया-कलाप युक्त (अथवा व्यापारवान्) बनाता है।

इस (फैण्टेसी) प्रकार के शिल्प में, विभाव-पक्ष अथवा वस्तु-पक्ष गौण अथवा प्रच्छन्न होता है। कवि अपनी रचना में विभाव-पक्ष

के प्रति उतना सजग नहीं होता, जितना कि भाव-पक्ष के प्रति। भोजप्रबन्ध में हम देखते हैं कि 'सभी कवि, एक ही साथ, भोजराज की राजसभा में'। पर, यह विस्मृत नहीं करना चाहिए कि ये सभी वस्तु-पक्ष के अन्तर्गत आते हैं और फैण्टेसी में वस्तुपक्ष में मुक्तिबोध ने इन्हीं तत्त्वों का विशद विवेचन करते हुए, इसकी व्याख्या इस प्रकार की है-

'रोमैण्टिक भाववादी आत्म-परक कला में, कल्पना अधिक स्वतन्त्र होकर, अधिकतर भाव-पक्ष का ही मूर्त्त-विधान करती है और विभाव-पक्ष को प्रतीकों अथवा अन्य प्रकार से मात्र सूचित अथवा ध्वनित कर देती है।'[1]

और इन्हीं विद्वान के ये उद्‌गार तो मानो भोजप्रबन्ध के लिए ही लिखे गए हों, 'फैण्टेसी में विभाव-पक्ष के कल्पना-बिम्ब प्रतीकात्मक होकर, अपनी मूल भूमि से इतनी दूर जा पड़ते हैं कि वे विभाव-पक्ष का भूगोल और इतिहास छोड़कर, उसका दिक्काल त्यागकर, अपना एक स्वतन्त्र भूगोल और इतिहास, अपना स्वतन्त्र दिक्काल स्थापित कर लेते हैं।'[2]

ये सभी उपर्युक्त कथन भोज-प्रबन्ध में शतप्रतिशत चरितार्थ होते दिखाई देते हैं। यहाँ सभी कवि (वस्तु-पक्ष या विभाव पक्ष के कल्पना-बिम्ब) अपने-अपने काल (इतिहास) एवं स्थान (भूगोल) को छोड़कर, अपने को, उन-उन कालगत (या अपनी-अपनी समकालीन), नवीन इतिहास (श्रीबल्लाल का रचनाकाल या सोलहवीं शताब्दी) का निर्माण करते हुए, अपना स्वतन्त्र दिक्काल स्थापित करते हैं।

इस प्रकार, हम पाते हैं कि फैण्टेसी नामक इस शिल्प के अधिकांश तत्त्व भोजप्रबन्ध में विद्यमान हैं। वस्तुतः फैण्टेसी-शिल्प के विषय में अद्यावधि अधिक कार्य नहीं हुआ है और यह तो सर्वविदित तथ्य है कि, सदा से लक्षण-ग्रन्थों का निर्माण लक्ष्य-ग्रन्थों के बाद ही होता आया है तो इस दृष्टि से, यदि फैण्टेसी का कोई नगण्य-महत्त्वहीन

---

1. मुक्तिबोध ग॰ मा॰ : कामायनी : एक पुनर्विचार, पृ॰ 5
2. वही

तत्त्व हमें भोजप्रबन्ध में न भी मिले, तो इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता। यदि इसकी विसंगतियों का समाधान, इसे फैण्टेसी मानने से हो जाता है, तो विद्वत्समाज को भी इसे एक फैण्टेसी के रूप में स्वीकारने में कोई समस्या नहीं होनी चाहिए।

भोजप्रबन्ध में अलंकार

अलंकार पद, 'अलम्' पूर्वक कृ धातु के प्रयोग से 'अलङ्क्रियते अनेन' अथवा 'अलङ्करोति' व्युत्पत्ति करने पर करण या भाव अर्थ में 'घञ्' प्रत्यय करने पर निष्पन्न होता है। इस पद का अर्थ है–जिस पदार्थ या तत्त्व के द्वारा कोई वस्तु सुशोभित की जाए, उसके सौन्दर्य में वृद्धि हो, वह पदार्थ या तत्त्व अलंकार कहलाता है। जिस प्रकार भौतिक शरीर (अलंकार्य) को कुण्डलादि (अलंकार) अलंकृत करते हैं, उसी प्रकार, शब्दार्थ रूपी शरीर वाले काव्य (अलंकार्य) को उपमा आदि (अलंकार) अलंकृत करते हैं।

काव्य में अलंकारों का प्रयोग मानव सभ्यता के आद्यतम ग्रन्थ **ऋग्वेद** में भी प्राप्त होता है। एक स्थान पर ऋषि वसिष्ठ इन्द्र से पूछते हैं–**'का ते अस्त्यरङ्कृतिः सूक्तैः।'**[1] यहां 'अरंकृत' पद सौन्दर्यवाची होने पर भी, उस पारिभाषिक अर्थ के रूप में प्रयुक्त नहीं हुआ है, जैसा कि उत्तरवर्ती लौकिक संस्कृत के युग में हुआ। पर, ऋग्वेद में भी अतिशयोक्ति[2], श्लेष[3], उपमा[4] एवं रूपकादि[5] अलंकार अनेक मन्त्रों में मिलते हैं।

ऋग्वेद के अनन्तर **ब्राह्मण-ग्रन्थों**[6] तथा **उपनिषदों**[7] में अलंकार पद का प्रयोग सौन्दर्याधायक तत्त्व के रूप में स्पष्टतः किया गया; पर इस समय तक भी इस पद का सम्बन्ध काव्यशास्त्र से नहीं हुआ था।

1. ऋ॰ 7.29.3
2. वही, 1.164.20
3. वही–1.164.21
4. वही–3.33.1
5. वही–4.58.3
6. शतपथब्राह्मण–13.8.4.7
7. वसनेन अलंकारेणेति संस्कुर्वन्ति। छा॰ उप॰–8.8.5

अलंकार पद का काव्यशास्त्रीय प्रयोग सम्भवतः सर्वप्रथम **यास्काचार्य** के **निरुक्त** में किया गया है। इसमें 'अरंकृत' पदों को पर्यायवाची मानते हुए[1] उपमा पद की निरुक्ति दी गई है[2]। इन्होंने उपमा के अनेक भेदों को भी दर्शाया।

महामुनि **पाणिनी** के समय में अलंकारों का शास्त्रीय निर्वचन हो चुका होगा। उन्होंने उपमा, सादृश्य, उपमान, सदृश आदि शब्दों के प्रयोग अपने सूत्रों में किए हैं।[3] **कात्यायन** ने उपमावाचक 'इव' शब्द के साथ नित्य समास करने का विधान किया। **पतंजलि** ने भी पाणिनीय सूत्रों के उपमा, उपमान, उपमित आदि पदों का निर्वचन प्रस्तुत किया।

इस प्रकार, हम देखते हैं कि वेद, ब्राह्मण, उपनिषद्, निरुक्त एवं व्याकरण आदि शास्त्रों में अलंकारों के निर्वचन का संकेत होने पर भी, उस युग के किसी ऐसे अलंकार ग्रंथ की उपलब्धि नहीं होती, जिसमें अलंकारों की शास्त्रीय विवेचना की गई हो। अलंकारों का सूक्ष्मरूपेण शास्त्रीय विवेचन सर्वप्रथम **भरतमुनि** के **नाट्यशास्त्र** में मिलता है।[4] उनसे लेकर **अप्पय दीक्षित** तक अलंकारों की संख्या 125 तक पहुँच गई।

आचार्य **भामह** ने **काव्यालंकार** में, सर्वप्रथम अलंकारों को काव्य के आत्मतत्त्व के रूप में प्रतिष्ठित किया। उनके अनुसार, जिस प्रकार कामिनी का मुख सुन्दर होते हुए भी, भूषण के बिना शोभायमान नहीं होता[5], उसी प्रकार अलंकारों के बिना काव्य की शोभा नहीं होती।

---

1. सोमा अरंकृता अलंकृता। नि॰ 10.1.2
2. उपमा अतत् तत्सदृशम्।।- नि॰ 3.3.14
3. अष्टा॰ 2.1.55; 3.1.10; 6.2. 11
4. उपमा रूपकं चैव दीपकं यमकं तथा।
   अलंकारास्तु विज्ञेयाश्चत्वारो नाटकाश्रया:।।
   ना॰ शा॰ 17.43
5. न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनिताननम्।
   का॰ 1.13

इनके पश्चात् तो अलंकारों का महत्त्व, काव्य में और भी बढ़ गया और पश्वाद्वर्ती प्रायः सभी आचार्यों ने अलंकारों को भी विवेचित किया।

कुछ प्रमुख आचार्यों द्वारा प्रतिपादित 'अलंकार' की परिभाषा पर दृष्टिपात् यहां अप्रासंगिक न होगा।

भामह के अनुसार शब्द और अर्थ की वक्रता से युक्त उक्ति ही अलंकार है **वक्राभिधेय शब्दोक्तिरिष्टा वाचामलंकृतिः।** (1.36)

आचार्य **दण्डी** ने **काव्यादर्श** में काव्य के सभी शोभाकर धर्मों को अलंकार प्रतिपादित किया और कहा कि ये धर्म अनेक प्रकार के हैं, जिनकी गणना नहीं की जा सकती।[1] **अग्निपुराण** में भी दण्डी के ही मत का अनुसरण किया गया है।[2]

आचार्य **वामन** के अनुसार काव्य की उपादेयता सौन्दर्यरूप अलंकार के कारण ही है।[3] काव्य की शोभा यद्यपि गुणों के द्वारा होती है, तथापि उस शोभा का अतिशय अलंकारों से ही होता है।[4]

आचार्य **आनन्दवर्धन** के अनुसार, काव्य के अलंकार का नियोजन रसादि के अंग रूप में होना चाहिए, अंगी रूप में नहीं।[5] साथ ही, इनका विनिवेशन, रस की दृष्टि से ही किया जाना चाहिए, उनके लिए पृथक् से प्रयास नहीं होना चाहिए।[6]

---

1. काव्यशोभाकरान् धर्मानलंकारान् प्रचक्षते।
   ते चाद्यापि विकल्प्यन्ते कस्तान् कार्त्स्येन वच्यति।।
   (काव्या॰ 2.1)
2. अग्निपुराण– 42.17
3. काव्यं ग्राह्यमलंकारात्। सौन्दर्यालंकारः।। (काव्या॰ सूत्र 1.1.2)
4. काव्यशोभायाः कर्तारो धर्मा गुणाः।
   तदतिशयहेतवस्त्वलंकाराः।। (काव्या॰ सूत्र 3.1.1 एवं 3.1.2)
5. अंगाश्रितास्त्वलंकाराः मन्तव्याः कटकादिवत्।।
   (ध्व॰ 2.7)
6. रसाक्षिप्ततया यस्य बन्धः शक्यक्रियो भवेत्।
   अपृथग्यत्ननिर्वर्त्यः सोऽलंकारो ध्वनो मतः।।
   (ध्व॰ 2.17)

आचार्य **मम्मट** के अनुसार हारादि आभूषणों के समान, जो तत्त्व, काव्य के आत्मभूत उस तत्त्व (अर्थात् रस) को, अंगरूप से कभी-कभी (नियमेन सर्वदा नहीं) उपकृत करते हैं, वे (अनुप्रासादि शब्द और उपमादि अर्थ) अलंकार कहलाते हैं।[1]

आचार्य **विश्वनाथ** के अनुसार, शब्द और अर्थ की शोभा बढ़ाने वाले अस्थिर धर्म अलंकार कहलाते हैं और ये उसी प्रकार रसादि को उपकृत करते हैं जैसे केयूरादि आभूषण मनुष्य को।[2]

इस प्रकार, इन सभी प्रमुख आचार्यों के विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि अलंकार, काव्य में अपरिहार्य होते हैं। ये शब्द और अर्थ के अस्थिर धर्म होते हैं तथा अनायास ही, रसानुकूलतः प्रयुक्त होने पर ये उनके उपकारक होते हैं।

साहित्यदर्पणकार के अनुसार, शब्द और अर्थ में शब्द ही बुद्धि में पहले उपस्थित होता है, अतः **शब्दालंकार** ही पहले कहने चाहिएं।[3] अतः, यहाँ भी पहले भोजप्रबन्ध में आगत शब्दालंकारों पर प्रकाश डाला जा रहा है।

शब्दालंकारों में **अनुप्रास** सर्वप्रथम परिगणित होता है। अनुप्रास का लक्षण, साहित्यदर्पण के अनुसार इस प्रकार है-

अनुप्रासः शब्दसाम्यं वैषम्येऽपि स्वरस्य यत्।
(सा॰ द॰, दशम परि॰)

अर्थात् स्वर की विषमता रहने पर भी, शब्द अर्थात् पद, पदांश के सादृश्य को अनुप्रास कहते हैं। स्वरों की समानता चाहे हो, या न हो, पर जहाँ अनेक एक-से व्यंजन मिलें, वहाँ यह अलंकार होता है। अनुप्रास का भोजप्रबन्ध में आगत यह उदाहरण अवलोकनीय है-

1. उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित्।
   हारादिवदलङ्कारास्तेऽनुप्रासोपमादयः।।
   (का॰ प्र॰ 6.67)
2. शब्दार्थयोरस्थिरा धर्माः शोभातिशयशालिनः।
   रसादीनुपकुर्वन्तोऽलंकारास्तेऽङ्गदादिवत्।।
   (सा॰ द॰ 10.1)
3. शब्दार्थयोः प्रथमं शब्दस्य बुद्धिविषयत्वाच्छब्दालंकारेषु वक्तव्येषु।
   वही, (दशम परि॰)

अघटितघटितं घटयति सुघटितघटितानि दुर्घटीकुरुते।
विधिरेव तानि घटयति यानि पुमानैव चिन्तयति॥[1]

अर्थात् विधि अनहोनी वस्तु को भी होनी कर देती है, होने वाली वस्तु को बिगाड़ देती है। मनुष्य को (स्वप्न में भी) जिसका विचार नहीं आता, उसे वह (संपादित भी) कर देती है।

भोजप्रबन्ध में अनुप्रास के कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं।[2]

यमक

इस अलंकार का लक्षण **साहित्यदर्पण** के अनुसार, इस प्रकार है–

सत्यर्थे पृथगर्थायाः स्वरव्यञ्जन संहतेः।
क्रमेण तेनैवावृत्तिर्यमकं विनिगद्यते॥
(10.8)

अर्थात् यदि अर्थवान् हो, तो भिन्न अर्थ वाले, स्वर-व्यंजन समुदाय की उसी क्रम से आवृत्ति को यमक कहते हैं। जिस समुदाय की आवृत्ति हो, उसका एकांश या सर्वांश यदि अनर्थक हो तो कोई आपत्ति नहीं, पर उसके किसी एक अंश या सर्वांश के सार्थक होने पर आवृत्त समुदाय की भिन्नार्थकता अनिवार्य है। भोजप्रबन्ध में, इस अलंकार का यह उदाहरण द्रष्टव्य है–

राजन्दौवारिकादेव प्राप्तवानस्मि वारणम्।
मदवारणम् इच्छामि त्वत्तोऽहं जगतीपते॥
(श्लोक 310)

अर्थात् हे राजन्! मुझे द्वारपाल से वारण (निवारण) प्राप्त हुआ पर अब मैं आपसे मदोन्मत्त वारण (हाथी) चाहता हूं।

प्रस्तुत पद्य में वारण शब्द की पुनरावृत्ति भिन्न-भिन्न अर्थों में हुई है। अतः यहाँ पर यमक स्पष्ट है।

1. भोजप्रबन्ध, श्लोक 144
2. वही, श्लोक 266, 268, 318 इत्यादि।

अपि च, भोजप्रबन्ध श्लोक 61 में भी यमक अलंकार दर्शनीय है-

दानोपभोगवन्ध्या या सुहृद्भिर्या न भुज्यते।
पुंसां समाहिता लक्ष्मीरलक्ष्मीः क्रमशो भवेत्॥

अर्थात् जिस मनुष्य का धन, दान अथवा उपभोग में काम नहीं आता, और मित्रों द्वारा भी नहीं भोगा जाता, वह क्रमशः दरिद्र हो जाता है।

यहाँ भी लक्ष्मी एवं (अ) लक्ष्मी पद भिन्नार्थक हैं, अतः यमक अलंकार है।

श्लेष

इसके पश्चात्, अलंकारों में श्लेषालंकार की गणना होती है। श्लेष अलंकार का लक्षण है-

श्लिष्टैः पदैरनेकार्थाभिधाने श्लेष इष्यते।
वर्णप्रत्ययलिङ्गानां प्रकृत्योः पदयोरपि॥[1]

अर्थात् श्लिष्ट पदों से अनेक अर्थों का अभिधान होने पर श्लेषालंकार होता है। वर्ण, प्रत्यय, लिंग, प्रकृति, पद, विभक्ति, वचन और भाषा, इनके श्लिष्ट होने के कारण, यह आठ प्रकार का होता है।

कविमतिरिव बहुलोहा सुघटितचक्रा प्रभातवेलेव।
हरमूर्तिरिव हसन्ती भाति विधूमानलोपेता॥[2]

अर्थात् बहुलोह (बहुल ऊह-तर्क) वाली-कवि की मति के समान; बहुलोह (अर्थात् बहुत लोहे) वाली, सुघटित चक्र (चक्रवाक पक्षी-मण्डल) वाली प्रभात वेला के सदृश; सुघटित चक्र (मण्डल) वाली तथा विधूमानल (विधु-चंद्र); उमा (पार्वती) अनल (अग्नि) से युक्त शिवजी मूर्ति के समान; विधूमानल (धूम रहित अग्नि) से परिपूर्ण,

1. सा॰ द॰ : दशम परि॰, श्लोक 11
2. भो॰ प्र॰: श्लोक 301

अंगीठी, शोभायमान होती है। उपर्युक्त श्लोक में श्लेष की सुन्दर छटा दिखलायी देती है।

इसी प्रकार, यह श्लोक भी श्लेष अलंकार का सुन्दर उदाहरण है–

प्रायो धनवतामेव धने तृष्णा गरीयसी।
पश्य कोटिद्वयासक्तं लक्षाय प्रवणं धनुः।।[1]

अर्थात् धनवान् द्रव्य की विशेषरूपेण अभिलाषा करते हैं, देखिए धनुष के यद्यपि दो कोटि (करोड़, सिरे) हैं, तब भी वह लक्ष (लाख, लक्ष्य=निशाने) की ओर झुकता है।

यहाँ 'कोटि' एवं 'लक्ष' शब्दों में श्लेष का सुन्दर प्रयोग किया गया है।[2]

अर्थालंकार

यहाँ तक शब्दालंकारों का परिचय दिया गया था। अब **भोजप्रबन्ध** में आगत **अर्थालंकारों** का निरूपण करते हैं।

उपमा

शब्दालंकारों में सर्वप्रथम उपमा का परिगणन किया गया है। इसका लक्षण है–

'साम्यं वाच्यमवैधर्म्यं वाक्येक्य उपमा द्वयोः।।[3]

एक वाक्य में, दो पदार्थों के वैधर्म्य रहित, वाच्य सादृश्य को उपमा कहते हैं। उपमा अलंकार को दर्पणकार ने सादृश्यमूलक अलंकारों का प्राणभूत–उपजीव्य माना है। (**सादृश्यमूलेषु लक्षितव्येषु तेषामप्युपजीव्यत्वेन प्रथममुपमाहा**–सा॰ द॰ दशम परि॰, पृ॰ 292)।

1. वही, श्लोक 60
2. वही, श्लोक 311 भी श्लेष का सुन्दर उदाहरण है।
3. सा॰ द॰, दशम परि॰, सूत्र 14, पृ॰ 292

भोजप्रबन्धकार ने भी संभवत: इसके महत्त्व को ध्यान में रखते हुए, अपने पद्यों में, इसी अलंकार का सर्वाधिक प्रयोग किया है। प्राय: 10 श्लोकों में उपमा का स्पष्ट प्रयोग है।[1]

इसका यह श्लोक पूर्णोपमा का अच्छा उदाहरण है-

'प्रज्ञागुप्तशरीरस्य किं करिष्यन्ति संहताः।
हस्तन्यस्तातपत्रस्य वारिधारा इवारयः॥'
(श्लोक 15)

अर्थात् जिस प्रकार, छत्रधारी का जलवृष्टि कुछ (अपकार) नहीं कर सकती, वैसे ही, बुद्धि से काम करने वाले का, संगठित वैरी भी कुछ (अपकार) नहीं कर सकते।

सामान्य धर्म, औपम्यवाची, उपमेय और उपमान ये चारों यदि वाच्य हों अर्थात् किसी शब्द से प्रतिपादित हों (अर्थात् व्यंग्य या आक्षेप्य न हों) तो उसे पूर्णोपमा कहते हैं।[2] उपर्युक्त पद्य में 'प्रज्ञागुप्तशरीरस्य' रूपी उपमेय, 'हस्तन्यस्तातपत्रस्य' रूपी उपमान, 'किं करिष्यन्ति संहता:' रूपी साधारण धर्म और 'वारिधारा इव अरय:' रूपी औपम्यवाची का स्पष्ट निर्देश होने से यहां पूर्णोपमा की सिद्धि होती है।

अपि च,

यथाङ्कुरः सुसूक्ष्मोऽपि प्रयत्नेनाभिरक्षितः।
फलप्रदो भवेत्काले तथा लोकः सुरक्षितः॥
(श्लोक 42)

अर्थात् जैसे समुचित रीति से रक्षित, लघु अंकुर भी समय आने पर फलदायक होता है, उसी प्रकार रक्षित प्रजा भी (समय पर फल देती है।)।

1. भो॰ प्र॰, श्लोक सं॰ 5, 15, 19, 42, 70, 77, 112, 116, 117, 146, 163, 321 इत्यादि।
2. सा पूर्णा यदि सामान्यधर्म औपम्यवाचि च।
उपमेयं चोपमानं भवेद्वाच्यम्॥-सा॰ द॰, दशम परि॰, पृ॰ 292 दो पदार्थों की तुलना के कारणीभूत गुण क्रियादि को सामान्य या साधारण धर्म कहते हैं। इव, यथा, तुल्यादि शब्द उपमावाचक कहलाते हैं। प्रकरण में वर्णनीय उपमेय माने जाते हैं तथा उनकी सुन्दरता आदि के निरूपक चंद्रादिक उपमान कहलाते हैं।

यहाँ पर सेवक की उपमा अंकुर से दी गई है, जो अत्यन्त सार्थक है। जैसे छोटे से अंकुर की अच्छी देखभाल एक फलदायी वृक्ष के रूप में परिणत होती है, उसी प्रकार बालावस्था से रक्षित सेवक, बड़ा होकर, एक स्वामिभक्त एवं विश्वासपात्र सेवक के रूप में परिणत होता है।

इसी प्रकार, भोजप्रबन्ध का 19 वां पद्य भी उपमा अलंकार का सुन्दर उदाहरण है क्योंकि, यहाँ 'परम्परा' रूपी अमूर्त्त उपमान का विधान किया गया है।[1]

रूपक

उपमा के अनन्तर, रूपक अलंकार का परिगणन किया गया है। इसका लक्षण है–

रूपकं रूपितारोपो विषये निरपह्नवे।।[2]

अर्थात् निरपह्नव अर्थात् निषेधरहित विषय (उपमेय) में रूपित (अपह्नवभेद उपमान) के आरोप को रूपकालंकार कहते हैं। जहाँ भेदरहित उपमान का उपमेय में आरोप हो, पर उपमेय के स्वरूप का निषेधक कोई शब्द न हो वहाँ रूपक होता है। इसका उदाहरण–

दारिद्र्यानलसन्तापः शान्तः संतोषवारिणा।
याचकाशाविघातान्तर्दाहः केनोपशाम्यते।।[3]

अर्थात् दरिद्रता रूपी अग्नि का सन्तोष संतोष रूपी जल से शीतल हो जाता है, पर याचकों के निराश लौटने रूपी (हृदय की) अन्तर्ज्वाला, भला किससे शीतल हो सकती है।

यहाँ पर दरिद्रता पर अग्नि का, संतोष पर जल का तथा याचकों की निराशा पर हृदय की अन्तर्ज्वाला का आरोप किया गया है। अतः,

---

1. 'पारम्पर्य इवासक्तस्त्वत्पाद उदरम्भरिः।
तद्वधे कारणं नैव पश्यामि नृपपुङ्गव।।' (श्लोक 19)
2. सा॰ द॰ दशम परि॰, श्लोक 28, पृ॰ 303
3. भो॰ प्र॰, श्लोक 103

यहाँ रूपक अलंकार है।

इसका एक उदाहरण भी द्रष्टव्य है-

भोजत्वत्कीर्तिकान्ताया नभोभालस्थितं महत्।
कस्तूरीतिलकं राजन् गुणाकार विराजते।।[1]

अर्थात् हे राजन्! हे गुणाकार! आपकी कीर्ति रूपी रमणी का विशाल कस्तूरी तिलक, उसके आकाशरूपी ललाट पर लगा हुआ है। (अर्थात् आपका यश आकाश तक व्याप्त हो गया है)।

यहाँ कीर्ति पर रमणी का तथा आकाश पर उसके ललाट का आरोप होने से रूपकालंकार है। उनके अतिरिक्त, रूपक अलंकार के अन्य भी कतिपय सुन्दर उदाहरण भोजप्रबन्ध में विद्यमान हैं।[2]

भ्रान्तिमान्

इसके पश्चात् अलंकारों के क्रम में भ्रान्तिमान् अलंकार का कथन किया गया है।[3] सादृश्य के कारण किसी वस्तु में अन्य वस्तु के निश्चयात्मक ज्ञान को यदि वह कवि की प्रतिभा से उट्टंकित हो-भ्रांतिमान् अलंकार कहते हैं।[4] भोजप्रबन्ध में इस अलंकार का सुन्दर उदाहरण प्राप्त होता है-

बल्लालक्षोणिपाल त्वदहितनगरे संचरन्ती किराती
कीर्णान्यादाय रत्नान्युरुतरखदिराङ्गारशंका कुलांगी।
क्षिप्त्वा श्रीखण्डखण्डं तदुपरि मुकुलीभूतनेत्रा धमन्ती
श्वासामोदानुयातैर्मधुकरनिकरैर्धूमशंका बिभर्ति।।[5]

अर्थात् हे बल्लाल भूपाल। आपके रिपुओं के नगर में घूमती हुई भीलिनें विकीर्ण रत्नों को लेकर, उन रत्नों को खदिर के बड़े अंगारे

1. वही, श्लोक॰ 127
2. भो॰ प्र॰, श्लोक सं॰ 35, 72, 83, 112, 117, 127, 256, 273, 282
3. सा॰ द॰, दशम परि॰, श्लोक 36, पृ॰ 311
4. साम्यादतस्मिंस्तद्बुद्धिर्भान्तिमान् प्रतिभोत्थितः।।
 वही
5. भो॰ प्र॰, श्लोक 276

समझ कर व्यग्र होकर, उनके ऊपर चन्दर की लकड़ी के टुकड़े रखकर नेत्रों को बन्द करके हवा करती हैं (ताकि आग जल जाए) मन्द श्वास के चलने से जो चन्दन की सुगन्ध उड़ी, उससे उस पर भौंरे आ गए। उन भौंरों को देखकर वे (भीलिनें) उस लकड़ी से धूम निकल रहा है, ऐसी शंका करने लगीं।

प्रस्तुत पद्य में कवि ने स्व प्रतिभा से, रत्नों को खदिर और भौंरों के चन्दन के ऊपर मंडराने को भील स्त्रियों द्वारा, लकड़ी से निःसृत धूम मानने की शंका की जो कल्पना की है, वही इस भ्रांतिमान् अलंकार का उदाहरण है।

उल्लेख

उल्लेख नामक अलंकार का लक्षण है–

क्वचिद् भेदाद्गृहीतृणां विषयाणां तथा क्वचित्।
एकस्यानेकधोल्लेखो यः स उल्लेख उच्यते।।[1]

अर्थात् ग्रहीता (ज्ञाताओं) के भेद से या विषय अर्थात् हेतु और अवच्छेदक आदि के भेद से एक वस्तु का अनेक प्रकार से उल्लेख (वर्णन या ज्ञान) करना उल्लेखालंकार कहलाता है। इसका उदाहरण द्रष्टव्य है–

सेवा सुखानां व्यसनं धनानां याञ्चा गुरूणां कुनृपः प्रजानाम्।
प्रणष्टशीलश्च सुतः कुलानां मूलावघातः कठिनः कुठारः।।[2]

अर्थात् सेवा (नौकरी) सुखों की नाशकारिणी कुल्हाड़ी है। व्यसन धन का नाशकर्ता है। गुरूत्व (गौरव) की नाशकर्त्री याचना है। प्रजा का नाशकर्ता दुष्ट राजा है। और दुःशील मनुष्य का पुत्र कुल का नाशक होता है।

यहाँ पर नाशकारक कुठार के विभिन्न रूपों का वर्णन होने से उल्लेखालंकार है।

1. सा॰ दर्पण, दशम परि॰, श्लोक 37, पृ॰ 311
2. भो॰ प्र॰, श्लोक 101

अतिशयोक्ति

इसके पश्चात्, अतिशयोक्ति अलंकार का स्थान है। आचार्य विश्वनाथ के अनुसार, अध्यवसाय के सिद्ध होने पर अतिशयोक्ति अलंकार होता है।[1] विषय (या उपमेय) का निगरण करके विषयी (उपमान) के साथ उसका अभेदज्ञान अध्यवसाय कहलाता है। इसका उदाहरण भोजप्रबन्ध में इस श्लोक में प्राप्त होता है।–

'यत्राम्बु निन्दत्यमृतमन्त्यजाश्च सुरेश्वरान्।
चिन्तामणींश्च पाषाणस्तत्र नो वसतिः प्रभो॥'

(श्लोक 271)

अर्थात् हे राजन्! जहाँ का जल अमृत की निन्दा करता है, चाण्डाल देवों की स्पर्धा करते हैं तथा जहाँ के पत्थर चिंतामणि की समता करते हैं, हम वहीं पर रहते हैं।

यह अतिशयोक्ति के पाँच भेदों[2] में से उसके चतुर्थ भेद अर्थात् असम्बन्ध में सम्बन्ध का उदाहरण है। यहाँ साधारण जल का अमृत से, चाण्डालों का देवों से तथा साधारण पाषाण का चिन्तामणि से असम्बन्ध होने पर भी सम्बन्ध की कल्पना की गई है। अतः यह अतिशयोक्ति का उदाहरण है।

तुल्ययोगिता

इसके बाद, तुल्ययोगिता नामक अलंकार, अलंकारों के क्रम में परिगणित होता है। केवल प्रकृत या केवल अप्रकृत पदार्थों में एक धर्म के सम्बन्ध का नाम तुल्ययोगिता है। यह धर्म कहीं गुणरूप होता है, कहीं क्रियारूप।[3]

---

1. सा॰ द॰, दशम परि॰, श्लोक 46, पृ॰ 323
2. भेदेप्यभेदः संबंधे संबन्धस्तद्विपर्ययौ।
   पौर्वापर्यात्ययः कार्यहेत्वोः सा पंचधा ततः॥
   सा॰ द॰, दशम परि॰, पृ॰ 323
3. पदार्थानां प्रस्तुतानामन्येषां वा यदा भवेत्।
   एकधर्माभिसंबन्धः स्यात्त्दा तुल्ययोगिता॥48॥
   सा॰ द॰, दशम परि॰, श्लोक 47, पृ॰ 327

इस अलंकार के अनेक उदाहरण भोजप्रबन्ध में सुलभ हैं।[1] इसका यह उदाहरण विशेषतः अवलोकनीय है–

नागो भाति मदेन खं जलधरैः पूर्णेन्दुना शर्वरी
शीलेन प्रमदा जवेन तुरगो नित्योत्सवैर्मन्दिरम्।
वाणी व्याकरणेन हंसमिथुनैर्नद्यः सभा पण्डितैः
सत्पुत्रेण कुलं त्वया वसुमती लोकत्रयं भानुना।।
(श्लोक 308)

अर्थात् हे भोज! मद से हाथी शोभित होता है, मेघों से आकाश, पूर्ण–चन्द्र से रात्रि, शील से नारी, वेग से घोड़ा, नित्य उत्सवों से मंदिर, व्याकरण से वाणी, हंसों की जोड़ी से नदी, पण्डितों से सभा, सुपुत्र से कुल तथा आपसे पृथ्वी एवं तीनों लोक सूर्य से (शोभित होते हैं।) यहाँ गजादि अप्रस्तुत पदार्थों में शोभारूपी एक ही गुण का सम्बन्ध बताया गया है। अतः, यह तुल्ययोगिता का उदाहरण सिद्ध हुआ। अपि च,

सर्वदा सर्वदोऽसीति मिथ्या त्वं कथ्यसे बुधैः।
नारयो लेभिरे पृष्ठं न वक्षः परयोषितः।।[2]

अर्थात् हे महाराज! समाज वृथा ही आपको सभी वस्तुओं का देने वाला (दाता) कहता है, क्योंकि शत्रु आपकी पीठ एवं परनारी, आपके वक्षःस्थल को नहीं पा सके हैं। यहाँ पर अप्रकृत शत्रु एवं परनारी में पीठ एवं वक्ष को न पाया जा सकना (न लेभिरे) रूपी एक ही क्रिया का सम्बन्ध है। अतः यह भी तुल्ययोगिता का सुन्दर उदाहरण है।

दीपक

दीपक अलंकार का लक्षण है–

अप्रस्तुतप्रस्तुतयोर्दीपकं तु निगद्यते।
अथ कारकमेकं स्यादनेकासु क्रियासु चेत्।। 49।।[3]

---

1. द्रष्टव्य–भो॰ प्र॰, श्लोक 65, 66, 82, 90, 308, 313, 316
2. वही श्लोक 313
3. सा॰, दशम परि॰, श्लोक 49, पृ॰ 328

अर्थात् जहाँ अप्रस्तुत और प्रस्तुत पदार्थों में एक धर्म का सम्बन्ध हो अथवा अनेक क्रियाओं का एक ही कारक हो, वहाँ दीपकालंकार होता है। उदाहरण-

न भवति स भवति न चिरं भवति चिरं चेत्फले विसंवादी।
कोपः सत्पुरुषाणां तुल्यः स्नेहेन नीचानाम्॥[1]

सज्जनों को क्रोध एवं दुर्जनों को स्नेह पहले तो उत्पन्न ही नहीं होता, उत्पन्न होता भी है तो दीर्घकाल तक नहीं रहता और यदि दीर्घकाल तक रहता भी है तो फल में ही भिन्न होता है अर्थात् सज्जनों के क्रोध का फल भी हितकारी होता है और दुर्जनों के स्नेह का भी फल अनिष्टकर होता है। यहाँ दुर्जनों के स्नेह एवं सज्जनों के कोप में साम्य (तुल्यः) रूपी समान धर्म होने के कारण दीपक अलंकार है।

दृष्टान्त

दीपक के अनन्तर, आचार्य विश्वनाथ के द्वारा उल्लिखित जिस अलंकार का भोजप्रबन्ध में उल्लेख मिलता है, वह है दृष्टान्त। आचार्य विश्वनाथ के अनुसार, दो वाक्यों में धर्म सहित 'वस्तु' अर्थात् उपमानोपमेय के प्रतिबिम्बन को दृष्टान्त अलंकार कहते हैं।[2] भोजप्रबन्ध में इस अलंकार के भी अनेक उदाहरण मिलते हैं।[3]

यह नीति की सूक्ति कहने वाला उदाहरण देखें-

प्रिय प्रजानां दातैव न पुनर्द्रविणेश्वरः।
अयच्छन्काङ्क्षते लोकैर्वारिदो न तु वारिधिः॥
(श्लोक 64)

अर्थात् जनवर्ग दाता को चाहता है, धनवान् को नहीं (वर्षा का जल) देने वाले मेघों (वारिद) की लोग आकांक्षा करते हैं, जल को संग्रहीत करके रखने वाले समुद्र (वारिधि) की नहीं।

1. भो० प्र०, श्लोक 285
2. 'दृष्टान्तस्तु सधर्मस्य वस्तुनः प्रतिबिम्बनम्॥'
   सा० द०, दशम परि०, श्लोक 51, पृ० 329
3. द्रष्टव्य-भो० प्र०, श्लोक 26, 68, 96, 136, 137

दृष्टान्त साधर्म्य एवं वैधर्म्य से दो प्रकार का होता है। उपर्युक्त उदाहरण साधर्म्य का उदाहरण है। यहां यद्यपि इवादि शब्द नहीं है, तथापि दाता के साथ मेघों का तथा धनी (पर अदाता) के साथ समुद्र के गुणों का सादृश्य प्रतीत होता है।

अपि च,

'यस्यास्ति सर्वत्र गतिः स कस्मात्-
स्वदेशरागेण हि याति खेदम्।
तातस्य कूपोऽयमिति ब्रुवाणाः
क्षारं जलं कापुरुषाः पिबन्ति।।'[1]

अर्थात् जिसकी सर्वत्र गति है, वह क्यों अपने देश-प्रेम से क्लेशों को झेले? यह कहते हुए कि 'यह कूप हमारे पिता का है' का-पुरुष ही खारे जल को पिया करते हैं। यहाँ ध्यान से देखने पर कापुरुषों द्वारा क्षार जल का पान एवं देशप्रेम के कारण योग्य व्यक्तियों द्वारा क्लेशों को सहन करना, इन दोनों में समता की प्रतीति होती है। यह वैधर्म्य से दृष्टान्त का उदाहरण है।

व्यतिरेक

व्यतिरेक अलंकार का लक्षण है-

'आधिक्यमुपमेयस्योपमानान्न्यूनताथवा।।'[2]

अर्थात् उपमान से उपमेय का आधिक्य अथवा उपमान से उपमेय की न्यूनता का वर्णन करने में व्यतिरेक नामक अलंकार होता है। इसका उदाहरण भी भोजप्रबन्ध में विद्यमान है-

अनेके फणिनः सन्ति भेकभक्षणतत्पराः।
एक एव हि शेषोऽयं धरणीधरणक्षमः।।[3]

1. भो॰ प्र॰, श्लोक 135
2. सा॰ द॰, दशम परि॰, श्लोक 52, पृ॰ 333
3. भो॰ प्र॰, श्लोक 300

अर्थात् यों तो मेंढकों को खाने वाले अनेक सर्प हैं, परन्तु पृथिवी को धारण करने में समर्थ केवल शेषनाग ही है।

यहाँ शेषनाग की अन्य साधारण रूपी सर्पों से उत्कृष्टता दिखाई गई है और इसी न्यूनाधिक्य भाव के कारण यहाँ व्यतिरेकालंकार सिद्ध होता है।

अप्रस्तुतप्रशंसा

इसके पश्चात् अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार का स्थान है। इसके भी अनेक उदाहरण श्रीबल्लाल ने भोजप्रबन्ध में स्थान-स्थान पर उद्धृत किए हैं।[1] इसका लक्षण है-

क्वचिद्विशेषः सामान्यात्सामान्यं वा विशेषतः।
कार्यान्निमित्तं कार्यं च हेतोरथ समात्समम्।।
अप्रस्तुतात्प्रस्तुतं चेद् गम्यते पञ्चधा ततः।
अप्रस्तुतप्रशंसा स्याद्।।[2]

अर्थात्-(1) अप्रस्तुत सामान्य से प्रस्तुत विशेष जहाँ व्यंग्य होता हो, अथवा (2) अप्रस्तुत विशेष से प्रस्तुत सामान्य सूचित होता हो, यद्वा (3) अप्रस्तुत कार्य से प्रस्तुत कारण द्योतित होता होता हो, किंवा (4) अप्रस्तुत कारण से प्रस्तुत कार्य व्यंजित हो, (5) अप्रस्तुत समान वस्तु से प्रस्तुत किसी समान वस्तु का व्यंजन होता हो, तो यही पाँच प्रकार की अप्रस्तुतप्रशंसा होती है।

भोजप्रबन्ध में आगत यह पद्य अप्रस्तुतप्रशंसा का अत्यन्त सुन्दर उदाहरण है-

किं कुप्यसि कस्मैचन सौरभचौराय कुप्य निजमधुने।
यस्य कृते शतपत्र प्रतिपत्रं तेऽद्य मृग्यते भ्रमरैः।।[3]

---

1. द्रष्टव्य-भो॰ प्र॰, श्लोक संख्या 14, 65, 67, 69, 100, 134 इत्यादि।
2. सा॰ द॰, दशम परि॰, श्लोक 59, पृ॰ 342-43
3. भो॰ प्र॰, श्लोक 69

अर्थात् हे पद्म! तुम किसी गन्ध के चोर पर इतना रोष क्यों करते हो? अपने मधु पर रोष करो, जिसकी सुरभि के द्वारा (आकृष्ट) भ्रमरों द्वारा आज तुम्हारी प्रत्येक पँखुड़ी खोजी जा रही है।

यह एक कवि की महाराज भोज के प्रति उक्ति है। राजा को दान ग्रहण करने वालों पर क्रोध नहीं करना चाहिए-यह सामान्य यहाँ प्रस्तुत है-परन्तु कमल एवं उसके मधु एवं भ्रमरकुल इत्यादि रूपी विशेष का अभिधान किया गया है। उससे सामान्य व्यंग्य है। अत:यहाँ अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार है।

व्याजस्तुति

व्याजस्तुति अलंकार का लक्षण है-

उक्ता व्याजस्तुतिः पुनः।
निन्दास्तुतिभ्यां वाच्याभ्यां गम्यत्वे स्तुतिनिन्दयोः॥[1]

अर्थात् वाच्य निन्दा से स्तुति के व्यंग्य होने पर तथा वाच्य स्तुति से निन्दा के व्यंग्य होने पर व्याजस्तुति अलंकार होता है। इसके उदाहरण, भोजप्रबन्ध में कई हैं।[2] यह पद्य देखें-

'सर्वज्ञ इति लोकोऽयं भवन्तं भाषते मृषा।
परमेकं न जानीषे वक्तुं नास्तीति याचके॥
(श्लोक 312)

अर्थात् हे महाराज! लोक में आपको जनसमाज व्यर्थ ही सर्वज्ञ कहता है क्योंकि याचकों के सम्मुख आप 'नहीं' करना नहीं जानते। यहाँ पहले तो 'नहीं जानने' से सर्वज्ञता का विरोध होने के कारण निन्दा प्रतीत होती है, पर अन्त में वह याचकों के लिए होने से सर्वज्ञता की सिद्धि होती है एवं यह राजा की स्तुति बन जाती है।

1. सा॰ द॰, दशम परि॰, पृ॰ 345
2. विशेष द्रष्टव्य-श्लोक सं॰ 72, 312, 313

पर्यायोक्ति

एतत्पश्चात्, अलंकारों के क्रम में पर्यायोक्ति अलंकार की गणना की गई है। इसे पर्यायोक्त भी कहते हैं।[1] इसका लक्षण आचार्य विश्वनाथ के अनुसार है-

पर्यायोक्तं यदा भङ्ग्या गम्यमेवाभिधीयते।[2]

अर्थात् यदि दूसरे रूप में, व्यंग्य बात को ही अभिधा से कह दिया जाए तो पर्यायोक्त अलंकार होता है। यथा-

कंकणं नयनद्वन्द्वे तिलकं करपल्लवे।
अहो भूषणवैचित्र्यं भोजप्रत्यर्थियोषिताम्।।[3]

अर्थात् आश्चर्य है कि राजा भोज के शत्रुओं की स्त्रियों की आँखों में कंकण हैं तथा कोमल हाथों में तिलक है। यहाँ राजा भोज की शूरवीरता तथा उसके शत्रुओं की भारी हार का वर्णन व्यंग्य है। उन रिपुओं की स्त्रियां निरन्तर रोती रहती हैं। अत: बार-बार आंसू पोंछने के कारण उनकी आँखों में कंकण आ गए हैं और भाल-तिलक हाथों में लग गया है। इसी 'कार्य' का वर्णन होने से, उसका कारण (अर्थात् शत्रु-विजय) भी व्यक्त हो ही जाता है। यही यहाँ प्रकृत है।

अर्थान्तरन्यास

एतदनन्तर, अर्थान्तरन्यास अलंकार परिगणित होता है। आचार्य विश्वनाथ के अनुसार, जहाँ विशेष से सामान्य या सामान्य से विशेष अथवा कारण से कार्य या कार्य से कारण, साधर्म्य अथवा वैधर्म्य के द्वारा समर्थित होता हो, उसे अर्थान्तरन्यास अलंकार कहते हैं। यह उक्त रीति से चार साधर्म्य और चार वैधर्म्य के भेद होने से आठ प्रकार का होता है।[4]

1. अलंकार कोश : अवस्थी, ब्रह्ममित्र, पृ॰ 184
2. सा॰ द॰ : दशम परि॰, श्लोक 61, पृ॰ 345
3. भो॰ प्र॰, श्लोक 123
4. सामान्यं वा विशेषण विशेषस्तेन वा यदि।
   कार्यं च कारणेनेदं कार्येण च समर्थ्यते।
   साधर्म्येणेतरेणार्थान्तरन्यासोऽष्टधा ततः।। 63 ।।
   सा॰ द॰, दशम परि॰, पृ॰ 346-47

उदाहरण,

ख्यातिं गमयति सुजनः सुकविर्विदधाति केवलं काव्यम्।
पुष्णाति कमलमम्भो लक्ष्म्या तु रविर्नियोजयति।।[1]

अर्थात्, सुजन के द्वारा कवि की प्रसिद्धि होती है और सुकवि केवल काव्य रचना करता है। (यथा) कमल को पानी उत्पन्न करता है, पर सूर्य प्रफुल्लित करता है। विशेष से सामान्य के समर्थन का उदाहरण, यह उपर्युक्त पद्य है। यहां पूर्वार्द्ध का अर्थ सामान्य है। उसका समर्थन उत्तरार्द्ध की विशेष घटना के द्वारा साधर्म्य से किया गया है। अर्थान्तरन्यास अलंकार के अनेक सुन्दर उदाहरण श्रीबल्लाल ने, भोजप्रबन्ध में यत्र-तत्र उदाहृत किए हैं।[2]

काव्यलिंग

अर्थान्तरन्यास के उपरान्त काव्यलिंग अलंकार का स्थान आता है। इसका लक्षण देते हुए आचार्य दर्पणकार लिखते हैं-

'हेतोर्वाक्यपदार्थत्वे काव्यलिंगं विनिगद्यते।।'[3]

अर्थात् वाक्यार्थ अथवा पदार्थ जहाँ किसी का हेतु हो, वहाँ काव्यलिंग अलंकार होता है।

भोजप्रबन्ध में इसका उदाहरण द्रष्टव्य है-

राजन्कनकधाराभिस्त्वयि सर्वत्र वर्षति।
अभाग्य च्छत्रसंच्छन्ने मयि नायान्ति बिन्दवः।।[4]

अर्थात् हे राजन्! आप द्वारा स्वर्ण की धारा रूप में वर्षा होने पर भी मेरे ऊपर अभाग्य का छत्र होने से एक बूंद भी नहीं पड़ती। यहाँ पूर्वार्द्ध का वाक्यार्थ उत्तरार्द्ध के वाक्यार्थ का हेतु है। इसीलिए यहाँ 'काव्यलिंग' अलंकार है।

1. भो॰ प्र॰, श्लोक 129
2. द्रष्टव्य-वही, श्लोक सं॰ 12, 28, 29, 97, 133, 145, 155 और 279 इत्यादि।
3. सा॰ द॰-दशम परि॰, श्लोक 64, पृ॰ 347
4. भो॰ प्र॰, श्लोक 314

आक्षेप

आक्षेप अलंकार का लक्षण है–

'वस्तुनो वक्तुमिष्टस्य विशेषप्रतिपत्तये।
निषेधाभास आक्षेपो वक्ष्यमाणोक्तगो द्विधा।।[1]

अर्थात् विवक्षित वस्तु की कुछ विशेषता प्रतिपादन करने के लिए निषेध-सा करना आक्षेपालंकार कहलाता है। यह दो प्रकार का होता है-एक तो वक्ष्यमाण वस्तु का निषेध करने पर और दूसरा उक्त वस्तु का निषेध करने पर। इसके भी सुन्दर उदाहरण भोजप्रबन्ध में मिलते हैं-

चेतोभुवश्चापलताप्रसंगे का वा कथा मानुषलोकभाजाम्।
यद्दाहशीलस्य पुरां विजेतुस्तथाविधं पौरुषमर्धमासीत्।।[2]

अर्थात् चित की चंचलता के प्रसंग में जबकि कामदेव को भी भस्म करने वाले और त्रिपुर जयी (शिव जी) का पुरुषार्थ भी आधा ही रहा तो मनुष्य लोक में रहने वाले पुरुष के चित्त की क्या बात?

प्रस्तुत पद्य में, सामान्य रूप से सूचित चित्त की चंचलता का वक्ष्यमाण विशेष के रूप में निषेध है। साथ ही यह निषेध का आभास मात्र है, वास्तविक निषेध नहीं है।[3]

विशेषोक्ति

इसके अनन्तर, विशेषोक्ति अलंकार का कथन है। इसका लक्षण है-

सति हेतौ फलाभावे विशेषोक्तिस्तथा द्विधा।[4]

अर्थात् हेतु के रहते हुए भी फल के न होने पर विशेषोक्ति अलंकार होता है। यह निमित्त के उक्त तथा अनुक्त होने से दो प्रकार का होता है। इसका भी एक सुन्दर उदाहरण, भोजप्रबन्ध से ही-

1. सा॰, द॰, दशम परि॰, श्लोक 65, पृ॰ 349
2. भो॰ प्र॰, श्लोक 81
3. विशेष द्रष्टव्य-वही, श्लोक 287
4. सा॰ द॰, दशम परि॰, श्लोक 67, पृ॰ 351

नो चारू चरणौ न चापि चतुरा चञ्चूर्न वाच्यं वचो
नो लीलाचतुरा गतिर्न च शुचिः पक्षग्रहोऽयं तव।
क्रूरक्रेङ्कृतिनिर्भरां गिरमिह स्थाने वृथैवोद्गिरन्
मूर्ख ध्वाङ्क्ष न लज्जसेऽप्यसदृशं पाण्डित्यमुन्नाटयन्॥[1]

अर्थात् ओ कौए। तुम्हारे न तो सुन्दर चरण हैं, न तो भली चोंच है, न चातुर्यपूर्ण बोली है, न मनोहर लीला है, न ललित गति (चाल) है, न तुम्हारे पंख शोभावान् हैं, तिस पर भी तुम वृथा कां-कां शब्द कर रहे हो। क्या मूर्ख की भाँति पांडित्य दिखाते हुए तुम्हें लज्जा नहीं आती?

विषम

इसके पश्चात्, अलंकारों के क्रम में विश्वनाथाचार्य ने विषमालंकार की गणना की है। इसका लक्षण है-

गुणां क्रिये वा चेत्स्यातां विरुद्धे हेतुकार्ययोः।
यदारब्धस्य वैफल्यमनर्थस्य च संभवः॥
विरूपयोः संघटना या च तद्विषमं मतत्॥[2]

इसका उदाहरण भोजप्रबन्ध में देखें–

प्राप्य प्रमाणपदवीं को नामऽस्ते तुलेऽवलेपस्ते।
नयसि गरिष्ठमधस्तात्तदितस्मुच्चैस्तरां कुरुषे॥[3]

अर्थात् हे तुला। तुम तो प्रमाणपद के लिए बनी हो (अर्थात् जो जैसा है, वैसा बताने वाली हो) परंतु, प्रमाणपद के मद से तुम हल्के को ऊपर और भारी (श्रेष्ठ) को नीचे करती हो।

लोक में प्रायः देखा गया है कि श्रेष्ठ लोग ऊपर उठते हैं एवं तद्विपरीत नीचे होते हैं। पर प्रमाण पद के लिए बनी तराजू हल्के को ऊपर एवं भारी को नीचे करती है। यहाँ कार्य (प्रमाण पद) एवं कारण (तुला) के गुण परस्पर विरुद्ध होने से विषमालंकार है।

1. भो॰ प्र॰, श्लोक 268
2. सा॰ द॰, दशम परि॰, श्लोक 69-70, पृ॰ 353
3. भो॰ प्र॰, श्लोक 134

यथासंख्य

इसके उपरान्त, यथासंख्य अलंकार का स्थान आता है। इसका लक्षण है–

'यथासंख्यमनुद्देश उद्दिष्टानां क्रमेण यत्।'[1]

अर्थात् उद्दिष्ट (कहे हुए पदार्थों) का यदि फिर इसी क्रम से कथन हो तो यथासंख्य अलंकार होता है। उदाहरण–

'कृतो यैर्न च वाग्मी च व्यसनी तन्न यैः पदम्।
यैरात्मसदृशो नार्थी किं तैः काव्यैबलैर्धनैः।।[2]

अर्थात् उस काव्य, बल तथा धन से क्या जिसने मूर्खों को पंडित, व्यसनी को अभिलषित वस्तु या स्थान को अपने अधीनस्थ, तथा याचक को धनी न बनाया (वह सर्वथा निरर्थक है)।

यहाँ वाग्मी, व्यसन तथा पदं आदि क्रमानुसार निर्दिष्ट पदार्थों के साथ 'काव्यं' 'बलै' 'धनै' आदि का उसी क्रम से समन्वय है। अतः यहाँ यथासंख्य अलंकार सिद्ध होता है।

तद्गुण

इसके बाद, तद्गुण अलंकार का उदाहरण भोजप्रबन्ध में मिलता है। इसका लक्षण है–

'तद्गुणः स्वगुणत्यागादत्युत्कृष्टगुणग्रहः।'[3]

अर्थात् अपने गुणों को छोड़कर अत्यन्त उत्कृष्ट के गुणों को ग्रहण करने पर तद्गुणालंकार होता है। उदाहरण–

'महाराज श्रीमञ्जगति यशसा ते धवलिते
पयः पारावारं परमपुरुषोऽयं मृगयते।

---

1. सा॰ द॰, दशम परि॰, श्लोक 79, पृ॰ 356
2. भो॰ प्र॰, श्लोक 104
3. सा॰ द॰, दशम परि॰, श्लोक 90, पृ॰ 363

कपर्दी कैलासं करिवरमभौमं कुलिशभृ-
त्कलानाथं राहुः कमलभवनो हंसमधुना।।[1]

अर्थात्, हे महाराज। आपकी कीर्ति से जगत धवल हो गया है। अतः परमपुरुष विष्णु क्षीरसमुद्र को, शिव कैलाश को, इन्द्र ऐरावत को, राहु चन्द्र को तथा ब्रह्म हंस को खोज रहे हैं।

यहाँ कीर्ति ने धवलता का इतना अभिप्राय प्राप्त कर लिया है कि वह विशेष हो गई है। इसीलिए तद्गुण अलंकार का यह उदाहरण बना।[2]

ये सब वे अलंकार हैं, जो कि प्रमुखरूपेण एवं स्पष्टतया प्रतीत होते हैं। इनके इस विस्तार से श्रीबल्लाल कवि की विद्वत्ता एवं उक्ति-वैचित्र्य तथा विषय वैविध्य का ज्ञान होता है।

भोजप्रबन्ध : रस

भारतीय सौन्दर्य-दर्शन का मूलाधार काव्यशास्त्र है और हमारे समृद्ध काव्यशास्त्र की चिन्तन-प्रणाली तथा विवेचन-दृष्टि, अति प्राचीन काल से ही मानव-मन की सूक्ष्म विज्ञात्री रही है। आधुनिक मनोविज्ञान सौन्दर्य-चेतना को एक मिश्रवृति मानते हुए, इसके योजक तत्त्वों के रूप में प्रीति एवं विस्मय का परिगणन करता है[3] भारतीय काव्यशास्त्र प्रारम्भ से ही इस रहस्य से भलीभांति अवगत था, जिसका प्रमाण है इसके दो प्रतिनिधि सिद्धान्त-रस और अलंकार; जो क्रमशः प्रीति एवं विस्मय के ही शास्त्रीय विकास हैं। सौन्दर्य के आस्वाद में निहित प्रीति-तत्त्व का प्राधान्य रस-सिद्धान्त में प्रस्फुटित एवं विकसित हुआ और दूसरी ओर विस्मय-तत्त्व के प्रामुख्य ने वक्रता, अतिशय आदि के माध्यम से अलंकारवाद का रूप धारण कर लिया।[4] अलंकारों का विस्तृत वर्गीकरण एवं विवेचन पूर्वपृष्ठों में किया गया है। अब काव्य में प्रमुख तत्त्व 'रस' की चर्चा की जा रही है।

1. भो॰ प्र॰, श्लोक 82
2. अपि द्रष्टव्य-वही, श्लोक 76
3. डा॰ नगेन्द्र : रस-सिद्धान्त, प्रथम अध्याय, पृ॰ 3
4. डा॰ नगेन्द्र : रस-सिद्धान्त, प्रथम अध्याय, पृ॰ 3

'न हि रसाद् ऋते कश्चिदर्थः प्रवर्तते।'[1]

भारतीय वाङ्मय के प्रथम काव्यशास्त्रीय ग्रंथ **नाट्यशास्त्र** में महामुनि **भरत** की यह उद्घोषणा कि 'रस के बिना कोई अर्थ प्रवृत्त नहीं हो सकता', काव्य में रस के महत्त्व को प्रतिपादित करती है। यह रस क्या है?

वैदिक काल में यह मात्र भौतिक अर्थ अर्थात् 'सार' तक ही सीमित था-

यो नो रसं दिप्सति पित्वो अग्ने यो
अश्वानां यो गवां यस्तनूनाम्। (ऋ॰ 7.104.10)

अर्थात् हे अग्नि! जो हमारे अन्न का सार विनष्ट करने की इच्छा करता है, और जो अश्वों, गायों और सन्तानों का सार नष्ट करने की इच्छा करता है। इत्यादि।

पर उपनिषद्-काल में रस, भौतिक अर्थ की परिधि को लांघ कर आध्यात्मिक अर्थ की सीमा में प्रवेश करता है।

रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽनन्दी भवति। (तैत्ति॰उप॰2.7)

अर्थात् वह (ब्रह्म) रस-रूप ही है। उसको पाकर मनुष्य (जीव) आनन्दमय हो जाता है।

इसके पश्चात्, सूत्रकाल में, **वात्स्यायन कामसूत्र** (ई॰ पू॰ चौथी शती) में रस शब्द रति, काम-शक्ति आदि अर्थ में प्रयुक्त हुआ।

रसो रतिः प्रीतिर्भावो रागोवेगः समाप्तिरिति
रतिपर्यायः। (का॰ सू॰ 2.1.65)

इसी में, एक स्थान पर शास्त्रीय अर्थ में भी रस का प्रयोग है।

तदिष्टभावलीलानुवर्तनम्। (का॰ सू॰ 6.2.35)

इस पर जयामंगला टीका है—नायकस्य शृंगारादिषु य इष्टो रसो

1. भरतमुनि, नाट्यशास्त्र, (6:31)

भावः स्थायिसंचारिसात्विकेषु, लीला तानि चेष्टानि तेषामनुवर्तनम्।'

इसकी प्रामाणिकता संदिग्ध होने पर भी, यह कहा जा सकता है कि भरतमुनि से पूर्व रस-शास्त्र की परम्परा का निर्माण प्रारम्भ हो चुका था।[1]

भरतमुनि ने रस को इस प्रकार से कहा है-

'तत्र विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः।'[2]

इस सूत्र में मूलतः रस-निष्पति का आख्यान है, स्वरूप का नहीं। पर रस के स्वरूप का विवेचन भी इसी में निहित है और आगे चलकर इसी के आधार पर उसका पल्लवन हुआ है। इसकी अब तक की विविध व्याख्याओं का सार यह है कि विविध भावों अर्थात् विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भाव से संयुक्त तथा त्रिविध (कायिक, आंगिक एवं वाचिक) अभिनयों द्वारा व्यंजित स्थायी भाव ही रस (या नाट्य रस) में परिणत हो जाता है।[3]

इसी प्रकार, इसके स्वरूप के विषय में आचार्य अभिनवगुप्त के मत का सार कुछ इस प्रकार है–

लोक में रत्यादि भावों के जो कारण, द्योतक एवं पोषक होते हैं, वे ही काव्यादि में विभाव, अनुभाव एवं व्यभिचारी भाव के नामों से अभिहित होते हैं। काव्यनिबद्ध होने पर इनका लौकिक रूप नष्ट हो जाता है और ये एक प्रकार का अलौकिक रूप धर लेते हैं। सहृदय द्वारा इन अलौकिक विभावादि के समवेत रूप का प्रत्यक्ष या मानस–साक्षात्कार या चर्वण ही 'रस' है।

यह रस चर्वण (आस्वाद) से अभिन्न होता है-अर्थात् रस आस्वाद रूप ही होता है, आस्वाद्य रूप या आस्वाद-विषय नहीं। इस प्रकार, स्थायी भाव रस नहीं है।

---

1. डा॰ नगेन्द्र : रस-सिद्धान्त, अध्याय 1, पृ॰ 9
2. शास्त्री, मधुसूदन : भरतमुनि : नाट्यशास्त्रम्, षष्ठोऽध्याय, पृ॰ 620 (का॰ 31)
3. वही, पृ॰ 80

अलौकिक विषय का आस्वाद होने के कारण रस स्वयं भी अलौकिक (अर्थात् स्मृति, अनुमान, प्रत्यक्षानुभवादि से भिन्न) है। यह न कार्य है, न ज्ञाप्य है, न सविकल्पक ज्ञान है, न निर्विकल्पक।

और चर्वणा की स्थिति में, प्रमाता का चित्त देश-काल, स्व, पर, तटस्थ, आदि की सीमाओं से मुक्त, एकतान एवं आत्मविश्रांति रूप हो जाता है अर्थात् रस अनिवार्यतः आत्मविश्रान्तिमयी आनन्द-चेतना है।[1]

रस कितने हैं-इस सम्बन्ध में भी काव्यशास्त्र में मतभेद रहा है। भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र में आठ रस माने हैं-

शृंगारहास्यकरुण रौद्रवीरभयानकाः।
बीभत्साद्भुतसंज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः॥

कालान्तर में 'शान्त' को भी मिलाकर नव रस माने गए हैं।[2]

रस का एक उदाहरण अप्रासंगिक न होगा। इसके द्वारा यह दिखाया जा रहा है कि किस प्रकार स्थायी भाव विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भावों से पुष्ट होकर 'रसत्व' की प्राप्ति करता है।

घटना- शकुन्तला एवं दुष्यन्त का, कण्व ऋषि के आश्रम में (नदी तीर पर) परस्पर मिलन।

यहाँ शकुन्तला एवं दुष्यन्त परस्पर आलम्बन आश्रय हैं। कण्व-आश्रम की प्राकृतिक छटा, वातावरण की एकान्तता आदि (बाह्य उद्दीपन) तथा शकुन्तला की लजाना, ठिठकना आदि चेष्टाएँ (आंतरिक) उद्दीपन हैं, जो दुष्यन्त (आश्रय) के जाग्रत प्रेम भाव को उद्दीप्त करती है। पाठक के जाग्रत स्थायी भाव भी उद्दीप्त होते हैं।

दुष्यन्त का, देखना, रुकना, आगे बढ़ना, आलिंगनादि (शारीरिक अनुभाव), प्रेम याचना (वाचिक) एवं रोमांच (सात्त्विक) आदि, अनुभाव के रूप में प्रकट हो कर प्रेम भाव को और भी पुष्ट करते हैं तथा इसी

---

1. वही, पृ॰ 81
2. आचार्य उद्भट के 'काव्यालंकारसंग्रह' में सर्वप्रथम शान्त-रहित नवरस का उल्लेख मिलता है। शास्त्री, मधुसूदन : अध्याय 4, पृ॰ 238

प्रकार हर्ष, आशा आदि संचारी भाव रसानुभूति को उद्दीप्त करते हैं। इस प्रकार, विभावादि के योग से पाठक का स्थायी भाव रति, जाग्रत और पुष्ट होकर, उसे श्रृंगार रस की अनुभूति कराता है।[1]

उपर्युक्त उदाहरण यह स्पष्ट करता है कि किस प्रकार विभावादि से पुष्ट होकर स्थायी भाव 'रस' में परिणत हो जाता है। वस्तुतः, हमारे प्राचीन आचार्यों ने काव्य-मनोविज्ञान के आधार पर स्थायी, संचारी भावों आदि का वर्गीकरण किया है (अर्थात् काव्य में जिन भावों की अनुभूति उन्हें व्यापक, विस्तृत, प्रबल, उदात्त एवं प्रमुख रूप में सम्भव प्रतीत हुई, उन्हें स्थायी भाव माना और शेष को संचारी)।[2]

अब भोजप्रबन्ध में आगत विभिन्न रसों का परिचय दिया जा रहा है। भोजप्रबन्ध में श्रृंगार, करुण, वीर, अद्‌भुत तथा शान्त रस मुख्यतः प्राप्त होते हैं। एक-दो स्थलों पर हास्य भी प्रस्फुटित है। इसमें वीभत्स, भयानक एवं रौद्र रसों का सर्वथा अभाव है। क्रमानुसार उदाहरण द्रष्टव्य हैं।

शृङ्गार रस

रति या काम, केवल मनुष्य ही नहीं अपितु सभी जातियों में मुख्य प्रवृत्ति के रूप में पाया जाता है। अतः सर्वप्रथम श्रृंगार रस का कथन प्रायः सभी काव्य-शास्त्रीय ग्रंथों में किया गया है।[3] साहित्यदर्पण के अनुसार, इसका लक्षण है-

श्रृंग हि मन्मथोद्भेदस्तदागमनहेतुकः।
उत्तमप्रकृतिप्रायो रसः श्रृंगार इष्यते॥[4]

अर्थात् कामदेव के उद्भेद (अंकुरित होने) को श्रृंग कहते हैं, उसकी उत्पत्ति का कारण, अधिकांश उत्तम प्रकृति से युक्त रस श्रृंगार कहलाता है। परस्त्री तथा अनुरागशून्य वेश्या को छोड़ अन्य नायिकाएं

1. झारी, कृष्णदेव : भारतीय काव्य सिद्धान्त, रस, पृ॰ 39
2. वही, पृ॰ 27
3. द्रष्टव्य-नाट्यशास्त्र (6.15); सा॰ दर्पण (3.182); का॰ प्रकाश (4.29)।
4. सा॰ द॰ तृतीय अध्याय, का॰ 183

तथा दक्षिण आदि नायक इस रस के आलम्बन विभाव माने जाते हैं। चन्द्रमा, चंदन, भ्रमरादि इसके उद्दीपन विभाव होते हैं। उग्रता, मरण, आलस्य एवं जुगुप्सा को छोड़कर अन्य निर्वेदादि इसके संचारी भाव होते हैं। इसका स्थायी भाव 'रति' है; वर्ण श्याम तथा श्रीविष्णु इसके देवता हैं।[1]

इस रस का भोजप्रबन्ध में आगत एक सुन्दर एवं सरस उदाहरण देखें-

खिन्नं मण्डलमैन्दवं विलुलितं स्रग्भारनद्धं तमः
प्रागेव प्रथमानकैतकशिखालीलायितं सुस्मितम्।
शान्तं कुण्डलताण्डवं कुवलयद्वन्द्वं तिरोमीलितं
वीतं विद्रुमसीत्कृतं नहि ततो जाने किमासीदिति।।[2]

चन्द्रबिम्ब (मुखमण्डल) पर पसीना आ गया, उसके पूर्व ही ग्रथित (घना) तम (बाल) खुल गए। मधुर हास से पूर्व ही केतकाग्र-लीला कुण्डलों का हिलना बन्द हो गया। कमलद्वन्द्व (नेत्र) बन्द हो गए। विद्रुम (ओष्ठ) का सीत्कार थम गया। तत्पश्चात्, न जाने क्या हुआ।

यह पद्य रत्यान्त का वर्णन है। श्लिष्ट पदावली प्रयुक्त है। अनुमित नायिका यहाँ आलम्बन विभाव है। तम, इन्दुमण्डल तथा कुवलयद्वन्द्वादि उद्दीपन हैं। स्वेद तथा स्तम्भ अनुभाव हैं तथा मधुर, हासादि व्यभिचारी भाव हैं जो रति नामक स्थायी भाव को पुष्ट कर, उसे श्रृंगार रस के रूप में अभिव्यंजित करते हैं।

अपि च,

अपांगपातैरपदेशपूर्वैरेणीदृशामेकशिलानगर्याम्।
वीथीषु वीथीषु विनापराधं पदे पदे श्रृंखलिता युवानः।।[3]

अर्थात् एकशिला नगरी में, गली-गली में तथा पग-पग पर युवकजन बिना अपराध के ही मृगनयनियों के कटाक्षों से लक्ष्यपूर्वक

1. सा॰ द॰, पृ॰ 106
2. भो॰ प्र॰, श्लोक 252
3. वही, श्लोक 277

ताड़ित होकर शृंखलित हो गए हैं।

यहाँ पर, युवकजन आलम्बन विभाव हैं, एकशिला नगरी का अनुमित प्राकृतिक सौन्दर्य उद्दीपन विभाव है, युवतियों का कटाक्ष-निक्षेप अनुभाव है और शृंखलित युवकों की (अनुमित) जड़ता व्यभिचारी भाव हैं। ये सब रति भाव से मिलकर शृंगार की निष्पत्ति करते हैं।

इसी ग्रन्थ का यह उदाहरण भी विशेष अवलोकनीय है-

अरुणकिरणजालैरन्तरिक्षे गतर्क्षे
चलति शिशिरवाते मन्दमन्दं प्रभाते।
युवतिजनकदम्बे नाथमुक्तौष्ठबिम्बे
चरमगिरिनितम्बे चन्द्रबिम्बं ललम्बे।।[1]

अर्थात् सूर्य किरणों के जाल से आकाश में, नक्षत्रों के दूर होने पर, प्रभात की मन्दानिल बहने पर, रमणियों के रमणों द्वारा अधरोष्ठ बिम्ब के त्यागने पर, अस्ताचल के मध्यभाग में चन्द्रमण्डल लम्बित हुआ।

इस पद्य में, रमणियां आलम्बन है; चन्द्र, प्रभात, मन्दानिल इत्यादि उद्दीपन विभाव हैं, चुम्बन अनुभाव हैं, अनुमित लज्जा एवं हर्षादि व्यभिचारी भाव हैं, जिनसे परिवर्तित रति शृंगार रूप में निष्पन्न होता है।

हास्य रस

इसके पश्चात्, हास्य रस का स्थान है। भोजप्रबन्ध में इसका अधिक प्रयोग नहीं और केवल एक ही स्थान पर यह पूर्णतया प्रस्फुटित होता प्रतीत होता है। इसका लक्षण है-

विकृताकारवाग्वेषचेष्टादेः कुहकाद्भवेत्।
हास्यो हासस्थायिभावः श्वेतः प्रमथदैवतः।।[2]

अर्थात् विकृत आकार, वाणी, वेष तथा चेष्टा आदि से हास्य

1. वही, श्लोक 320
2. सा॰ द॰, तृतीयोऽध्यायः, का॰ 214, पृ॰ 115

रस का आविर्भाव होता है। इसका स्थायी भाव 'हास' है। वर्ण शुक्ल एवं देवता प्रमथ (शिवगण) हैं। जिसकी विकृत वाण्यादि को देख लोग हंसें, वह आलम्बन तथा उसकी चेष्टाएं उद्दीपन विभाव होते हैं। नयन-मुकुलन एवं वदन-विकसन इसके अनुभाव तथा निद्रा, आलस्य एवं अवहित्था आदि व्यभिचारी भाव होते हैं।[1]

भोजप्रबन्ध में इस रस का यह उदाहरण प्राप्त होता है।

'ततो विद्वान् काष्ठं भूमौ निक्षिप्य कोशाधिकरणं गत्वा प्राह-महाराजेन प्रेषितोऽहम्। लक्षं मे दीयताम्।' ततः स हसन्नाह-'विप्र, भवन्मूर्तिर्लक्षं नार्हति।' ततो विषादी स राजानमेत्याह-'स पुनर्हसति देव नार्पयति।' राजा कुतूहलादाह-'लक्षद्वयं प्रार्थय। दास्यति।' पुनरागत्य विप्रः-'लक्षद्वयं देयमिति राज्ञोक्तम्' इत्याह। स पुनर्हसति। विप्रः पुनरपि भोजं प्राप्याह-'स पापिष्ठो मां हसति नार्पयति।' ततः कौतूहली लीलानिधिर्महीं शासञ्श्री भोजराजः प्राह-'विप्र, लक्षत्रयं याचस्व। अवश्यं स दास्यति।' स पुनरेत्य प्राह-'राजा मे लक्षत्रयं दापयति।' स पुनर्हसति।[2]

उपर्युक्त गद्यांश में विप्र आलम्बन, उसकी बार-बार कोशाधिकारी के पास आवागमनादि चेष्टाएं उद्दीपन, वदन-विकसनादि अनुभाव तथा अवहित्था (बात बनाना) व्यभिचारी भाव, ये सब हास नामक स्थायी भाव से मिलकर हास्य रस की अभिव्यंजना करते हैं।

करुण रस

इसके पश्चात् करुण रस का स्थान है। इसका लक्षण है-

इष्टनाशादनिष्टाप्तेः करुणाख्यो रसो भवेत्।
धीरैः कपोतवर्णो यं कथितो यमदैवतः॥[3]

इष्ट के नाश और अनिष्ट की प्राप्ति के करुण रस आविर्भूत होता है। यह कपोतवर्ण होता है एवं इसके देवता यम होते हैं। इसमें

1. वही
2. भो॰ प्र॰, पृ. 150 (अग्रे द्रष्टव्य)
3. सा॰ द॰ तृ॰ परि॰, का॰ 222, पृ॰ 116

स्थायी भाव शोक होता है और विनष्ट बन्धु आदि शोचनीय व्यक्ति आलम्बन तथा उसका दाह-कर्मादिक उद्दीपन होता है। प्रारब्ध-निन्दा, भूमिपतन, रोदन, वैवर्ण्य, उच्छ्वास, निःश्वास, स्तम्भ एवं प्रलाप इसके अनुभाव तथा निर्वेद, मोह, अपस्मार, व्याधि, ग्लानि, स्मृति, श्रम, विषाद, जडता, उन्माद तथा चिंता आदि व्यभिचारी भाव होते हैं।[1]

भोजप्रबन्ध में इस रस का सुन्दर परिपाक अनेक स्थलों पर मिलता है।

ततः सावित्रीसंज्ञा भोजस्य जननी विश्वजननीव स्थिता दासीमुखात्स्वपुत्रस्थितिमाकर्ण्य कराभ्यां नेत्रे पिधाय रुदती प्राह-पुत्र, पितृव्येन कां दशां गमितोऽसि। ये मया नियमा उपवासाश्च त्वत्कृते कृताः, तेऽद्य मे विफला जाताः। दशापि दिशामुखानि शून्यानि। पुत्र, देवेन सर्वज्ञेन सर्वशक्तिनाऽऽमृष्टाः श्रियः। पुत्र, एनं दासीवर्गं सहसा विच्छिन्नशिरसं पश्यं इत्युक्त्वा भूमावपतत्।[2]

उपर्युक्त गद्यांश में भोज की माता सावित्री का भोज की भुंज द्वारा हत्या किए जाने के समाचार को प्राप्त करने की दशा का वर्णन है। इसमें विनष्ट भोजकुमार आलम्बन, उसका अनुमित अन्त उद्दीपन, प्रारब्ध-निन्दा, प्रलाप एवं भूमिपतन आदि अनुभाव तथा निर्वेद, मोह, स्मृति एवं विषाद आदि व्यभिचारी भाव हैं।

अपि च,

वृद्धो मत्पतिरेष मञ्चकगतः स्थूणावशेषं गृहं
कालोऽयं जलदागमः कुशलिनी वत्सस्य वार्तापि नो।
यत्नात्सञ्चिततैलबिन्दुघटिका भग्नेति पर्याकुला
दृष्ट्वा गर्भभरालसां निजवधूं श्वश्रूश्चिरं रोदिति।।[3]

अर्थात् मेरे ये वृद्ध पति खटिया पर पड़े हैं, मकान भी स्तम्भ-मात्र अवशिष्ट रह गया है, यह वर्षा का समय है और पुत्र की

1. वही
2. भो॰ प्र॰, पृ. 110 (अग्रे द्रष्टव्य)
3. भो॰ प्र॰, श्लोक 255

कुशलता का समाचार भी नहीं आया। यत्न से रखा हुआ तेल का पात्र भी फूट गया, ऐसी दशा देख कर तथा अपनी पुत्रवधू को आसन्न-प्रसवा देख गृह-स्वामिनी अत्यन्त विलाप कर रही है।

इस पद्य में, घर का दारिद्र्य आलम्बन तथा उस दारिद्र्य की अतिशयिता (स्थूणावशेषत्व, तेल का पात्र भग्न होना इत्यादि) उद्दीपन, गृहस्वामिनी का प्रलाप रूपी अनुभाव तथा दैन्य, और चिन्ता आदि व्यभिचारी भाव, शोक स्थायी भाव से मिलकर, उसे पुष्ट कर, करुण रस की मार्मिक अभिव्यंजना कर रहे हैं।

वीर रस

इसके पश्चात् रसों की क्रम-गणना में वीर रस का स्थान है। इसका लक्षण है-

उत्तम प्रकृतिवीर उत्साहस्थायिभावकः।
महेन्द्रदैवतो हेमवर्णो यं समुदाहृतः॥[1]

उत्तम पात्र (रामादि नायक) में आश्रित वीररस होता है। इसका स्थायी भाव उत्साह, देवता महेन्द्र तथा रंग सुवर्ण-सदृश होता है। इसमें जीतने योग्य (रावणादि) (पात्र) आलम्बन विभाव तथा उनकी चेष्टाएं उद्दीपन विभाव होते हैं। युद्ध के सहायक (धनुष या सैन्यादि का अन्वेषणादि) इसका अनुभव तथा धैर्य, मति, गर्व, स्मृति, तर्क, रोमांचादि इसके व्यभिचारी भाव होते हैं।[2]

भोजप्रबन्ध में इस रस के उदाहरण देखिए-

'पन्थाः संहर दीर्घतां त्यज निजं तेजः कठोरं रवे
श्रीमन्विन्ध्यगिरे प्रसीद सदयं सद्यः समीपे भव।
इत्थं दूरपलायनश्रमवतीं दृष्ट्वा निजप्रेयसीं
श्रीमन्भोज तव द्विषः प्रतिदिनं जल्पन्ति मूर्च्छन्ति च॥'[3]

---

1. सा॰ द॰, तृतीय परि॰, का॰ 232, पृ॰ 117-18
2. वही।
3. भो॰ प्र॰, श्लोक 172

'हे पथ। तुम दीर्घता को त्याग दो। हे सूर्य! अपनी तीक्ष्ण किरणें रोक लीजिए। हे श्रीमान् विन्ध्यगिरि। कृपया शीघ्र निकट आ जाइये। इस प्रकार हे भोज! दूर भागने से परिश्रान्त और अपनी प्रेयसियों को देख, आपके वैरीगण ऐसा प्रलाप करते हैं और मूर्च्छित हो जाते हैं।

प्रस्तुत पद्य में, भोजराज के शत्रुगण आलम्बन, उनका भोजराज के भय से अतिशय आक्रान्त होना उद्दीपन, उनका नित्य मूर्च्छित होना अनुभाव एवं स्मृति (भोज के पराक्रम की) तथा भोज का अनुमित गर्वादि व्यभिचारी भाव (भोज के) उत्साह के साथ मिलकर वीर रस को पुष्ट करते हैं।

अपि च,

'छन्नं सैन्यरजोभरेण भवतः श्रीभोजदेव क्षमा-
रक्षादक्षिण दक्षिणक्षितिपतिः प्रेक्ष्यान्तरिक्षं क्षणात्।
निःशंको निरपत्रपो निरनुगो निर्बान्धवो निःसुहृ-
न्निस्त्रीको निरपत्यको निरनुजो निर्हाटको निर्गतः॥[1]

अर्थात् हे क्षमा तथा रक्षा में निपुण श्री भोज! आपकी सेना की धूलि से आच्छन्न गगन को देख, दक्षिण देशाधिप, भय एवं लज्जा से रहित, सेवक, बान्धवों तथा मित्रों से रहित एवं स्त्री, पुत्रों, अनुज एवं धन से भी हीन होकर भाग गया।

इस पद्य में, भोज का रिपु दक्षिणाधिप नृप आलम्बन, उसका भोज-भय से पलायन उद्दीपन, भोज की सेना की धूलि से अनुमित पराक्रम अनुभाव तथा भोज का गर्व, आदि व्यभिचारी भाव हैं। ये सब भोज के उत्साह को पुष्टि प्रदान करते हुए वीर रस की अभिव्यंजना करते हैं।

अद्‌भुत रस

एतदनन्तर, अद्‌भुत रस का स्थान है। कथाकाव्यों में प्रायशः इसी रस का बाहुल्य होता है। भोजप्रबन्ध में भी इसका प्राचुर्य है। इसका लक्षण–

1. भो॰ प्र॰, श्लोक 266

'अद्भुतो विस्मयस्थायिभावो गन्धर्वदैवतः।
पीतवर्णो वस्तु लोकातिगमालम्बनं मतम्।'[1]

अर्थात् अद्भुत रस का स्थायी भाव विस्मय है, देवता गन्धर्व और रंग पीत है। अलौकिक वस्तु इसका आलंबन एवं उसके गुणों का वर्णन उद्दीपन होता है। स्तंभ, स्वेद, रोमांच, गद्गद् स्वर, संभ्रम और नेत्रविकासादि अनुभाव तथा वितर्क, आवेग, भ्रांति, हर्षादि व्यभिचारी भाव होते हैं।[2]

इसका उदाहरण देखें-

यथा यथा भोजयशो विवर्धते
सितां त्रिलोकीमिव कर्तुमुद्यतम् ।
तथा तथा मे हृदयं विदूयते-
प्रियालकालीधवलत्वशङ्कया।।[3]

अर्थात् भोजराज की धवलकीर्ति ज्यों-ज्यों बढ़ती है तथा तीनों लोकों को शुभ्र करने को उद्यत होती है, त्यों-त्यों यह सोचकर कि कहीं मेरी स्त्री के केश धवल न हो जाएं, मेरे हृदय में पीड़ा होती है।

इस पद्य में कवि का विस्मय स्थायी भाव है। भोजराज का यश आलम्बन है तथा उसकी अतिशय व्यापकता उद्दीपन है। इस प्रकार की महिमा का वर्णन अनुभाव है और इस वर्णन से उत्पन्न हर्ष एवं भ्रांति आदि व्यभिचारी भाव हैं। इन सब के द्वारा अद्भुत रस निष्पन्न होता है।

अपि च,

धाराधीश धरामहेन्द्रगणनाकौतूहली यामयं
वेधास्त्वद्गणने चकार खटिकाखण्डेन रेखां दिवि।
सैवेयं त्रिदशापगा समभवत्त्वतुल्यभूमीधरा-
भावात्तु त्यजति स्म सोऽयमवनीपीठे तुषाराचलः।।[4]

1. सा॰ द॰, तृतीय परि॰, का॰ 242-43, पृ॰ 120
2. वही
3. भो॰ प्र॰, श्लोक 76
4. वही, श्लोक 202

अर्थात् हे धारेन्द्र! ब्रह्मा ने भूतल के प्रतापी राजाओं की गणना करने के लिए कौतूहलवश, खड़िया से आकाश में आपके नाम की जो रेखा खींची, वही यह आकाशगंगा है। फिर भूतल पर आपके सदृश किसी अन्य को न देखकर, उन्होंने वह मिट्टी का टुकड़ा भूतल पर फेंका, वही यह हिमालय है।

इस पद्य में भी कवि का विस्मय स्थायीभाव है। भोज की कीर्ति एवं प्रताप आलम्बन तथा इन गुणों की अतिशयता उद्दीपन है। इस माहात्म्य का वर्णन अनुभाव तथा इससे उत्पन्न हर्ष एवं भ्रांति आदि व्यभिचारी भाव हैं।

शान्त रस

इसके बाद शान्त रस का स्थान है। इसका लक्षण है-

शान्तः शमस्थायिभाव उत्तमप्रकृतिर्मतः।
कुन्देन्दुसुन्दरच्छायः श्रीनारायणदैवतः॥[1]

अर्थात् शान्त रस का स्थायी भाव शम, आश्रय उत्तम पात्र, वर्ण कुन्दपुष्प तथा चन्द्रमा के समान सुन्दर, शुक्ल तथा श्रीलक्ष्मीनारायण देवता हैं। अनित्यत्व, दुःखमयत्व आदि रूप से संपूर्ण संसार की असारता का ज्ञान या परमात्मा का स्वरूप आलंबन तथा ऋषि-आश्रम, तीर्थ, वन तथा सत्संगादि उद्दीपन विभाव होते हैं। रोमांचादि अनुभाव तथा निर्वेद, हर्ष, स्मरण, मति, दया आदि संचारी भाव होते हैं।[2]

भोजप्रबन्ध में आगत इस रस का यह उदाहरण द्रष्टव्य है-

सारंगाः सुहृदो गृहं गिरिगुहा शान्तिः प्रिया गेहिनी
वृत्तिर्वन्यलताफलैर्निवसनं श्रेष्ठं तरूणां त्वचः।
तद्ध्यानामृतपूरमग्नमनसां येषामियं निर्वृत्तिं-
स्तेषामिन्दुकलावतंसयमिनां मोक्षेऽपि नो न स्पृहा॥[3]

---

1. सा॰ द॰, तृतीय परि॰, का॰ 245-46, पृ॰ 121
2. वही।
3. भो॰ प्र॰, श्लोक 273

अर्थात् हे भोज! हिरणादि मेरे सुहृद् हैं, पहाड़ की गुफा मेरी कुटिया, शान्ति मेरी अर्द्धांगिनी है, अग्नि, फल तथा लतादि मेरा आहार हैं, उत्तम वृक्षों की छालें वस्त्र हैं। ऐसी वृत्ति वाले संयमियों को, केवल इन्दुमौलि शिवजी के व्रतों की ही अभिलाषा होती है, मोक्ष तक की नहीं।

उपर्युक्त पद्य में, उक्त योगी आश्रय है, उसको (तपादि से प्राप्त) हुआ संसार के अनित्यत्व का ज्ञान आलम्बन, आश्रमादि उद्दीपन विभाव, अनुमित रोमांचादि अनुभाव तथा निर्वेद, हर्ष एवं मति इत्यादि व्यभिचारी भावों से शान्त रस की निर्मल धारा प्रवाहित हो रही है।

इस प्रकार, यहाँ तक भोजप्रबन्ध में आगत रसों का विवेचन किया गया है। ये वे स्थल थे जहाँ विभावादि का सम्पूर्ण निर्वाह प्राप्त हुआ। अन्य कतिपय स्थलों पर भी रस-प्रतीति होती है, पर उदाहरणार्थ उन्हीं स्थलों को दिखाया गया है जिनमें रस का पूर्ण परिपाक प्राप्त होता है। वैसे एक ग्रंथ की दृष्टि से भोजप्रबन्ध में अद्‌भुत रस बतलाया जा सकता है। इस दृष्टि से, इसे पढ़ने के उपरान्त पाठक का विस्मय नामक स्थायी भाव, अलौकिक कथावस्तु (सभी कवि, एक ही साथ, एक ही जगह) इसका 'आलंबन', उन कवियों आदि के चरितों का वर्णन 'उद्दीपन' विभाव, (इसे पढ़ने के उपरान्त उत्पन्न) रोमांच एवं स्तम्भादि अनुभाव तथा भ्रांति आदि व्यभिचारी भाव, परिपुष्ट होकर अद्‌भुत रस की सुन्दर एवं मनोरंजक अभिव्यंजना करते हैं।

निष्कर्ष

यह विवेचन स्पष्ट करता है कि भोजप्रबन्ध कोई निरुद्देश्य, निरर्थक कथा-संग्रह न होकर एक सोद्देश्य, सार्थक कथा-संग्रहात्मक फैण्टेसी है, जिसे श्रीबल्लाल ने अपने मनोभावों की अभिव्यक्ति हेतु प्रणीत किया। अपि च, यह विभिन्न अलंकारों से अलंकृत तथा अद्‌भुत रस से परिपूर्ण है, जिसकी विवेचना ऊपर की गई है। इस प्रकार, यह सिद्ध होता है कि श्री बल्लाल एक सरस एवं सहज (अद्‌भुत) फैण्टेसी के प्रणयन में सफल रहे हैं।

उपसंहार

इस प्रकार, प्रस्तुत पुस्तक में भोजप्रबन्ध का सामान्य अध्ययन किया गया है। जैसा कि प्रारम्भ में प्रतिपादित किया गया था तथा इस पूर्वोक्त विवेचन के अवलोकन से भी स्पष्ट होता है कि इस अध्ययन में तार्किक, शास्त्रीय एवं सिद्धान्तों के विकासात्मक पक्ष को उद्घाटित करने वाली पद्धति का आश्रय लिया गया है। प्रत्येक उस तत्त्व का, जो कि भोजप्रबन्ध में स्पष्टतः प्रतीत एवं विद्यमान है; यथा–अलंकार, रस, गद्य, पद्य, फैण्टेसी इत्यादि; उनके काल–क्रमानुसार संक्षिप्त एवं युक्तिसंगत परिचय के साथ; निरूपण किया गया है। यद्यपि अन्य विवेच्य तथ्यों का उल्लेख प्रत्येक अध्यायान्त में प्रदत्त निष्कर्ष में कर दिया गया है, तथापि अध्यायानुसार सार–संक्षेप की चर्चा सम्भवतः यहाँ अप्रासंगिक न होगी।

प्रथम अध्याय में श्रीबल्लाल कवि के व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर प्रकाश डाला गया है। श्रीबल्लाल कवि सोलहवीं शती के उत्तरार्द्ध में हुए थे, इसे इनके वंशजों के साक्ष्य से प्रमाणित किया गया है। इनकी कृति, 'भोजप्रबन्ध' की अनैतिहासिकता को प्रमाणों द्वारा पुष्ट किया गया है। इससे यह कवि–कल्पित काव्य सिद्ध होता है और इसकी सोद्देश्यता का भी ज्ञान होता है।

द्वितीय अध्याय में, चम्पू–काव्यों के क्रमिक विकास एवं ह्रास की पृष्ठभूमि में भोजप्रबन्ध के चम्पू–काव्यत्व की सिद्धि की गई है। साथ ही, भोजप्रबन्ध में आगत पद्यों का विस्तृत विषयानुसार विवेचन तथा गद्य भाग का विवेचन भी प्रस्तुत किया गया है।

तृतीय एवं अन्तिम अध्याय में, इसे एक फैण्टेसी सिद्ध किया गया है। फैण्टेसी को काल्पनिक चिन्तन का एक रूप माना जा सकता है। पर यह कपोल–कल्पना नहीं होती; अपितु यह वस्तु जगत् से एक निश्चित एवं सक्रिय सम्बन्ध भी रखती है। वस्तुतः फैण्टेसी अभी एक शिल्पविशेष के रूप में पूर्णतया प्रतिष्ठित नहीं हो पाई है और इस विषय में अभी बहुत शोध अपेक्षित है क्योंकि यह एक मनोवैज्ञानिक व्यापार पहले है, साहित्यिक विधा बाद में। इसी अध्याय में, काव्य के शरीर

(शब्द एवं अर्थ) के अलंकरणों (अर्थात् अलंकारों) तथा प्राण (अर्थात् रस तत्त्व) का विवेचन भी किया गया है।

अत:, निष्कर्षत: कहा जा सकता है कि, यह अध्ययन एक ओर जहाँ भोजप्रबन्ध के विषय में विद्यमान भ्रान्तियों का निराकरण करता है, तथा उसे एक **कथा-संग्रहात्मक, उपदेशात्मक, उद्देश्यात्मक फैण्टेसी मूलक चम्पू-काव्य** सिद्ध करता है; वहीं दूसरी ओर संस्कृत-वाङ्मय में अति प्राचीन काल से प्रकटित (एवं अब तक उपेक्षित) फैण्टेसी तत्त्व को भली-भाँति अन्वेषित तथा प्रतिपादित करने हेतु शोध का मार्ग भी प्रशस्त करता है।

परिशिष्ट-1

भोजप्रबन्धः

परिशिष्ट–3

सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची

मूलः

भोजप्रबन्ध : 'राज्यश्री' टीकोपेतः, प॰ केदारनाथ शर्मा, चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी, तृतीय सं॰, 1970

भोजप्रबन्ध : डा॰ शिवराज शास्त्री, साहित्य भण्डार, मेरठ, द्वितीय संस्करण 1961

भोजप्रबन्ध : डा॰ रामेश्वर झा, प्रकाशन केन्द्र, लखनऊ

सूचियाँ, कोष एवं इतिहास ग्रन्थ (अकारादि क्रमानुसार)

अंग्रेजी

Aufrecht, Theodor : Catalogus Catalogorum Vol. I, Vol. II, Vol. III, Germany, 1962 (Original Edition) : I - 1891; II - 1896 ; III - 1903.

Banejee, S.C. : A Companion to Sanskrit Literature, Motilal Banarasidas, Delhi, III Edition, 1974.

Chaitanya Krishna : A New History of Sanskrit Literature, Manohar Pubishers, II ed., 1977.

Encyclopaedia Britannica : Vol. 16, 15th ed., Univ. of Chicago.

Garg, G.R. : An Encyclopaedia of Indian Literature, Mittal Publishers, Delhi, Ist ed., 1982.

International Encyclopaedia of Social Sciences

Krishnamachariar, M.: History of Classical Sanskrit Literature, Motilal Banarasidas, Delhi, III ed., 1974.

Winternitz, M. : A History of Indian Literature, translated from German by Subhadra Jha, Vol. III, Part I, Classical Sanskrit Literature, Motilal Banarasidass, Delhi, IInd ed., 1977.

Weber, Albrecht : The History of Indian Literature, Translated from German by John Mann and Theodor Zachariae, Takshila Hardbounds, Delhi, IV ed., 1981.

हिन्दी

अवस्थी, ब्रह्ममित्र : अलंकार-कोश

आप्टे, वामन शिवराम : संस्कृत-हिन्दी-कोश, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, तृतीय संस्करण, 1973

उपाध्याय, बलदेव : संस्कृत साहित्य का इतिहास, शारदा मंदिर, वाराणसी, अष्टम संस्करण, 1968

उपाध्याय, रामजी : संस्कृत के महाकवि और काव्य रामनारायणलाल बेनीप्रसाद, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, 1965

कुमार, कृष्ण : अलङ्कारशास्त्र का इतिहास, साहित्य भण्डार, मेरठ, प्रथम संस्करण, 1975

गैरोला, वाचस्पति : संस्कृत साहित्य का साँस्कृतिक इतिहास, चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी, 1967

गोरखप्रसाद : भारतीय ज्योतिष का इतिहास, हिन्दी समिति, उत्तर प्रदेश शासन, लखनऊ, द्वितीय संस्करण

पाण्डेय, चंद्रशेखर तथा व्यास, शा॰ ना॰ : संस्कृत-साहित्य की रूपरेखा, साहित्य निकेतन, कानपुर, अष्टम संस्करण, 1973

पाण्डेय, सत्यनारायण : संस्कृत-साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, साहित्य भंडार, मेरठ, तृतीय संस्करण,1975

भारद्वाज, विश्वनाथ शास्त्री : 'संस्कृत साहित्येतिहासः' चौखम्भा ओरियन्टालिया, वाराणसी, तृतीय संस्करण, 1980

माथुर, विजयेन्द्र कुमार : 'ऐतिहासिक स्थानावली' शिक्षा मंत्रालय, भारत सरकार प्रथम संस्करण, 1969

नगेन्द्र : भारतीय साहित्य कोश, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली

व्यासशिष्य, कुंवरलाल	:	संस्कृत ललित साहित्य का इतिहास, इतिहास विद्या प्रकाशन, दिल्ली, 1979-80
शर्मा, द्वारकाप्रसाद और झा, तारिणीश	:	संस्कृत-शब्दार्थ कौस्तुभ, चतुर्थ संस्करण, रामनारायण लाल बेनीप्रसाद, इलाहाबाद।
शास्त्री, मंगलदेव	:	संस्कृत साहित्य का इतिहास, द्वितीय भाग (प्रो॰ ए॰ बी॰ कीथ द्वारा विरचित), प्राच्य अनुसंधान संस्थान, वाराणसी, 1967
सिंह, राजकिशोर	:	विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा, प्रथम संस्करण,
हीरा, राजवंश सहाय	:	संस्कृत साहित्य कोश, चौखम्भा संस्कृत सीरीज़, वाराणसी।

काव्यशास्त्र से संबद्ध पुस्तकें
(लक्षण-ग्रन्थ) (कालक्रमानुसार)

नाट्यशास्त्र	:	भरतमुनि (2री शती ई॰ पू॰-2री शती ईस्वी के बीच), शास्त्री, मधुसूदन; काशी हिन्दू विश्वविद्यालय संस्कृतसाहित्यानुसंधान समिति द्वारा प्रकाशित, 1971
काव्यालङ्कार	:	भामह (6वीं शती का मध्य) बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, 1962
काव्यादर्श	:	दण्डी (8वीं शती ईस्वी) गुप्त, धर्मेन्द्र कुमार, मेहरचन्द लक्ष्मनदास, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1973;

ध्वन्यालोक : आनन्दवर्धन (9वीं शती)
सिद्धान्तशिरोमणि विश्वेश्वर,
(सं॰-डा॰ नगेन्द्र), ज्ञानमण्डल
लिमिटेड, वाराणसी, द्वितीय संस्करण,
1971

काव्य-मीमांसा : राजशेखर (9वीं का उत्तरार्द्ध)
राय, गंगासागर, चौखम्भा विद्याभवन,
वाराणसी, प्रथम संस्करण, 1964

काव्य-प्रकाश : मम्मट (11वीं शती)
सिद्धान्तशिरोमणि, विश्वेश्वर
(सं॰-डा॰ नगेन्द्र), ज्ञानमण्डल
लिमिटेड, वाराणसी, चतुर्थ संस्करण,
1970

साहित्यदर्पण : विश्वनाथ कविराज (14वीं शती)
शास्त्री शालिग्राम; मोतीलाल
बनारसीदास दिल्ली,
सप्तम संस्करण 1973

रसगंगाधर : पण्डितराज जगन्नाथ (17वीं शती)
मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली

सहायक पुस्तकें (अंग्रेजी) (अकारादि क्रमानुसार)

Caudwell, Cristopher : Illusions and Reality,
International Publishers,
New York, IInd edition, 1966

Nandargikar, G.R. : The Raghuvamsha of
Kalidasa, Motilal Banarasidass,
Delhi, V edition, 1982

Nath, Vija : Dana : The Gift System
In Ancient India

Singh M. : Bhoja-Paramara And His Times, Bhartiya Vidya Prakashan, India, Ist edition, 1984

Sternbach, Ludwik : Indian Riddles : "A Forgotten Chapter in the History of Sanskrit Literature", Vishveshvaranand Vedic Research Institute, Hoshiarpur, Ist ed., 1975

सहायक पुस्तकें (हिन्दी) (अकारादि क्रमानुसार)

उपाध्याय, बलदेव : भारतीय दर्शन, चौखम्भा ओरियन्टालिया, वाराणसी, 1976

उपाध्याय, बलदेव : संस्कृत सुकवि-समीक्षा, चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी, 1963

चक्रधर, अशोक : मुक्तिबोध की काव्य-प्रक्रिया, दिल्ली, दि मैकमिलन कंपनी आफ इंडिया लिमिटेड, प्रथम संस्करण, 1975

चारुमित्र : आलोचक मुक्तिबोध, यूनाइटेड बुक हाउस, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1978

झारी, कृष्णदेव : भारतीय काव्य-सिद्धान्त-'रस', शारदा प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1980

त्रिपाठी, छविनाथ : 'चम्पू-काव्य का आलोचनात्मक एवं ऐतिहासिक अध्ययन',

		चौखंभा विद्या भवन, वाराणसी, प्रथम संस्करण, 1965
द्विवेदी, सुधाकर	:	गणक-तरंगिणी, काशी, द्वितीय संस्करण, 1933
द्विवेदी, हजारीप्रसाद	:	प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद, हिंदी ग्रंथ रत्नाकर प्रा॰ लि॰ हीराबाग, बम्बई, तृतीय संस्करण, 1963
नगेन्द्र	:	रस-सिद्धान्त, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1987
भट्ट, गंगाधर	:	संस्कृत काव्य में नीति-तत्व, जयपुर, प्रथम संस्करण, 1971-72
भरतिया, कांति किशोर	:	रामायण और महाभारत में प्रकृति, कानपुर, प्रथम संस्करण, 1969
मुक्तिबोध, गजानन माधव	:	कामायनी : एक पुनर्विचार, दिल्ली प्रथम संस्करण, 1973,
व्यास, भोलाशंकर	:	संस्कृत कवि-दर्शन, चौखम्भा विद्या भवन, वाराणसी, तृतीय संस्करण, 1968
शर्मा, रामशरण	:	प्राचीन भारत में राजनैतिक विचार एवं संस्थाएं, द्वितीय संस्करण, 1990 राजकमल प्रकाशन, दिल्ली।

शर्मा, हरद्वारी लाल	:	कला मनोविज्ञान, मानसी प्रकाशन, मेरठ, प्रथम संस्करण, 1992
शास्त्री, हरिदत्त	:	संस्कृत काव्यकार, साहित्य भंडार, मेरठ, द्वितीय संस्करण, 1970